chapter. 1

प्रथम अध्याय

पृष्ठ भूमि

(पृष्ठ १-५३)

विषय प्रवेश

१७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत की राजनीतिक और साहित्यक चेतना को भगवंतराय खींची के व्यक्तित्व ने प्रभावित किया है, यद्यपि उनका जन्म गंगा-यमुना के अन्तर्वेद के निवासी एक निर्धन ग्रामीण पिता के घर में हुआ था, परन्तु उनकी प्रतिभा, योग्यता तथा चारित्रिक विशेषताओं ने उन्हें बहुत ही ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित किया ।

उस युग के लोगों की सामान्य दृष्टि में वीरत्व, धर्म और कवित्व गुणों का विशेष सम्मान था। जनता की श्रद्धा और उसके विश्वास को जीतने के लिए इन गुणों के ही परिप्रेक्ष्य में सफलता मिल सकती थी । भगवंतराय के व्यक्तित्व में इन गुणों की त्रिवेणी थी, अत: उनके लिए जन-नायक बन सकना अत्यन्त स्वाभाविक था ।

धर्म उनकी व्यक्तिगत साधना और आचार का नियामक था, जिसकी पृष्ठभूमि ने उनके वीरत्व और कवित्व को विशेष रूप से श्रद्धास्पद बना दिया । भगवंतराय ने योग्यतापूर्वक इस श्रद्धा के द्वारा जनता को संगठित कर के उसमें स्वातंत्र्य भावना का उन्नयन कर उसे विजातीय शासन के अन्यायों के विरोध में सन्नद्ध किया । उनका वीरत्व जहां राजनीतिक नेतृत्व में सक्रिय हुआ, वहीं उनकी काव्य-प्रतिभा स्वयं सृजनशील होने के अतिरिक्त कवियों के लिए कल्पवृक्ष बनी । उनकी इस सदाशयता से अनेक तत्कालीन कवि लाभान्वित हुए और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने की ओर प्रवृत्त हुए ।

मंडल शब्द का अर्थ और प्रबंध में इसकी सार्थकता

भगवंतराय के व्यक्तित्व की राजनीतिक एवं साहित्यक-क्षमताओं ने अपने युग के इतिहास को एक केंद्र-बिन्दु बन कर दूर तक प्रभावित किया है । इस प्रकार उनके प्रभाव-क्षेत्र को परिधि मान कर उसके लिए मंडल शब्द का प्रयोग सार्थक और समीचीन होगा । प्राचीन राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में हमें यह शब्द इसी अर्थ में मिलता भी है ।

साथ ही लोक में मंडल शब्द इसी अर्थ में बहु प्रचलित है । एक ही प्रकार के लोगों को मिलजुल कर बैठते-उठते देख कर लोक उन सब को मंडल के वाच्यार्थ में समेट लेता है । मित्र-मंडल, खल-मंडल, भक्त-मंडल, आदि प्रयोग लोक-वाणी में मिलते हैं । मंडल शब्द की व्युत्पत्ति भी इस अर्थ की पुष्टि करती है, मडि-मंड का अर्थ है शोभा, जिसमें ल प्रत्यय के लगने से मंडल शब्द बनता है, अर्थात् मंडं लाती तिमंडलं = शोभा को देने वाला । जैसे सूर्य और चन्द्र के चारों ओर प्रकाश परिधि शोभा कारक होती है और मंडल की संज्ञा पाती है, उसी प्रकार भगवंतराय के केन्द्रस्थ व्यक्तित्व के चारों ओर काव्य और राजनीतिक कार्य कलापों की संश्लिष्टि उनकी कीर्ति श्री में वृद्धि कर सिद्ध हुई है ।

इस बात के अनेक प्रमाण तत्कालीन इतिहास में मिलते हैं कि भगवंतराय वास्तविक अर्थ में मंडलाधीश थे । राजनीतिक क्षेत्र में उनके अनेक आश्रित सामन्त ही नहीं वरन् अनेक ऐसे राजा भी थे जो उनकी नीति से नियंत्रित एवं उनके सहायक थे । इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में कवियों को संरक्षित और प्रोत्साहित करने में इनका बहुत बड़ा योग है । अपने व्यक्तित्व के कारण ये राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में नेतृत्व कर सके हैं । इस प्रकार इनके राजनैतिक और साहित्यक दोनों ही मंडलों की उपलब्धि, इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान निर्दिष्ट करती है । इस प्रबंध में हम इन्हीं मंडलों का अध्ययन करेंगे । अतः विषय-प्रवेश के पूर्व साहित्यक और राजनीतिक मंडलों का स्वरूप यहीं समझ लेना आवश्यक होगा ।

साहित्यिक मंडल :

भगवंतराय के ही आश्रित कवियों के वचन हैं :

लै कविराजन की मति शंभु
सरस्वति फैलि रही सुख दैनी
शंभुनाथ मिश्र

गुनिन को गाहक जहान में उचरिगो
मूधर

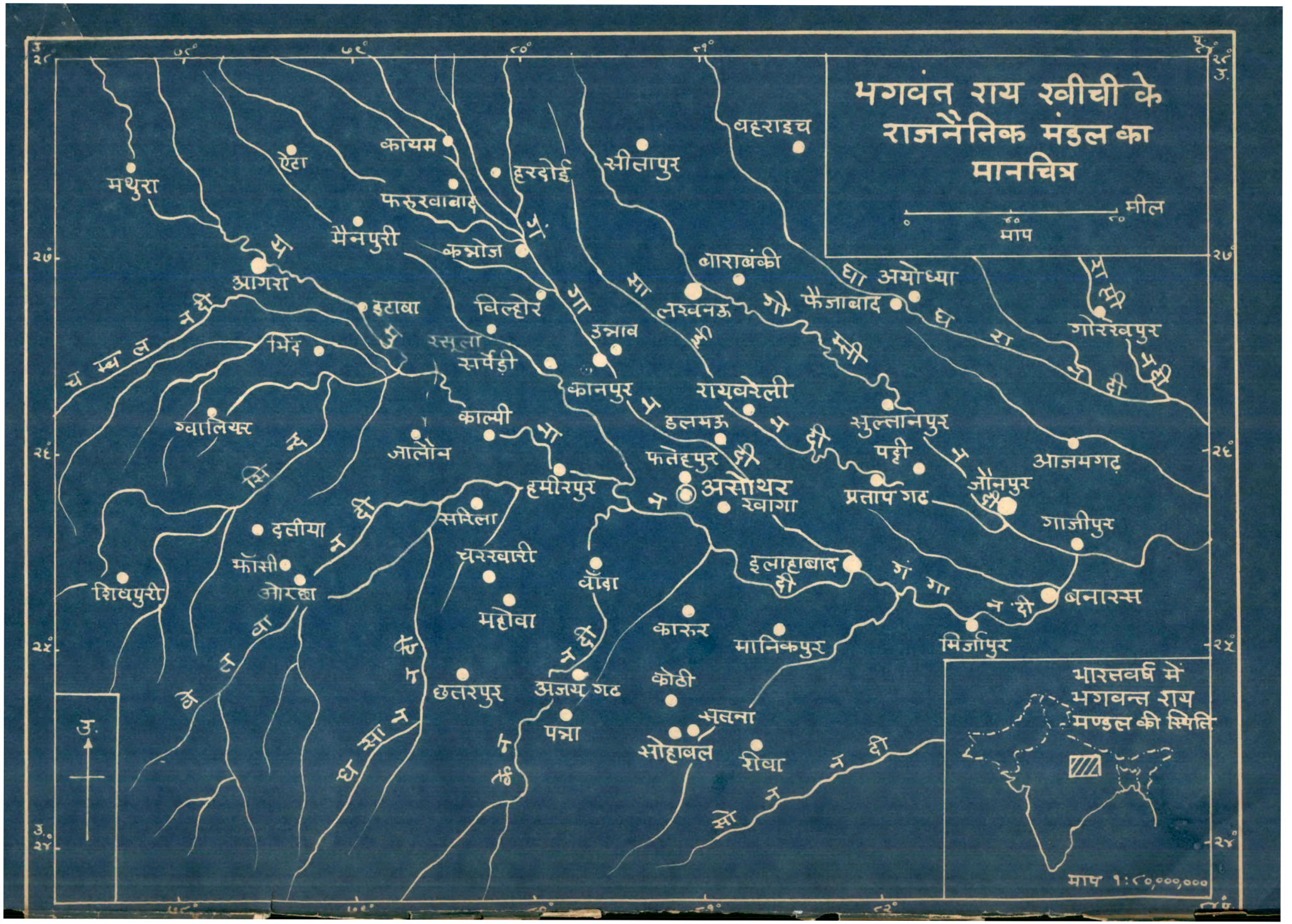
भगवंत राय खीची के
राजनैतिक मंडल का
मानचित्र
मील
० ४० ८०
माप
मथुरा
ऐटा
कायम
हरदोई
सीतापुर
बहराइच
फरुखाबाद
मैनपुरी
कन्नोज
बाराबंकी
अयोध्या
आगरा
इटावा
बिल्हौर
लखनऊ
फैजाबाद
गोरखपुर
भिंड
उन्नाव
रसूलाबाद
सर्वेड़ी
कानपुर
रायबरेली
ग्वालियर
काल्पी
जालौन
हलमऊ
सुल्तानपुर
पट्टी
आजमगढ़
फतेहपुर
असोथर
हमीरपुर
प्रतापगढ
जौनपुर
रवागा
गाजीपुर
दतीया
समिला
झाँसी
चरखारी
इलाहाबाद
शिवपुरी
ओरछा
चाँदा
बनारस
महोवा
कारुर
मानिकपुर
मिर्जापुर
छतरपुर
अजयगढ
कोठी
पन्ना
सतना
सोहावल
रीवा
उ.
भारतवर्ष में
भगवन्त राय
मण्डल की स्थिति
माप 1:८०,०००,०००

` कविराजन ` और ` गुनिन ` शब्द बहुवचन हैं । इनके प्रयोग से निष्कर्ष यह निकलता है कि उनके आश्रय में अनेक कवि सम्मान पाते थे । सामयिक कवियों की उपलब्ध रचनाओं में इसकी पुष्टि के प्रभूत प्रमाण विद्यमान हैं । इस प्रकार रचनाओं के आधार पर एवं अन्य वाह्य साक्ष्यों के अनुसार भगवंतराय के मंडल के कवियों में इन्द्र, कंठ, उदयनाथ, कवीन्द्र, गोपाल, चतुरेश, महाकवि देव, नेवाज, मूधर, नाथ, मल्ल, मुहम्मद, मिश्र सुखदेव, सदानन्द, सारंग, हेम, शंभुनाथ मिश्र और श्यामलाल के अतिरिक्त भी अनेक कवि रहे होंगे जिनका परिचय नहीं मिलता । संभव है इनमें से कुछ की रचनाएं अज्ञात कवियों की रचनाओं में हों भी । इन कवियों का परिचय एक अध्याय में अलग से दिया गया है ।

राजनीतिक मंडल

भगवंतराय के राजनीतिक क्षेत्र में किए गए कार्य विस्तार को भी मंडल शब्द में ही प्रकट किया जा सकता है । राजनीति शास्त्र में मंडल शब्द का अर्थ जनपद होता है । मांडलिक अथवा मंडलाधीश शब्द इसी आधार पर प्रचलित हुए हैं । शब्द कल्पद्रुम में उद्धृत श्लोक इस कथन को स्पष्ट करने में यहां सहायक सिद्ध होगा :—

उपेत: कोष दण्डाभ्यां साऽमात्य: स: मंत्रिभि:
दुर्गस्थश्चिन्तयेत्सासु मंडलं मण्डलांधिप:

(कवि) साहित्यकारों की ही भांति आस पास के स्वातंत्र्य कामी राजपूत ठिकानेदारों के भगवंतराय नेता और संरक्षक बन गए थे । प्रमाण भी हैं....

जिन गोल बांधि अडोल अचल हरौल दिल्ली को हन्यो`
'विरुदावली'

हुए हमराह सब राजें को आए गोल मारा है `
` जंगनामा `

` गोल ` और ` मंडल ` समानार्थी शब्द हैं । यहां भी 'मंडल' शब्द का प्रयोग ही समीचीन

है । तत्कालीन इतिहास से भी पुष्ट होता है कि कि भगवंतराय के नेतृत्व में आस-पास की प्रमुख हिन्दू शक्तियां संगठित हो गई थीं ।[१] इतिहासकार रुस्तम अली द्वारा इनके सैनिकों के लिए ' वेगा बाड्स ' शब्द के प्रयोग में भी यही ध्वनि है ।[२] घृणा मूलक भाव के कारण ही उसने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है । ये तथ्य भगवंतराय की नेतृत्व शक्ति के समर्थन में दृढ़ प्रमाण हैं । विरुदावली के कवि गोपाल ने उन ठिकानेदारों के नाम भी गिनाए हैं जो अंतिम युद्ध में उनके नेतृत्व में लड़े थे ।[३] जंगनामा के कवि मुहम्मद ने उन राजपूतों के नाम दिए हैं जो विरोधी पक्ष की ओर से खड़े हुए थे ।[४] इनसे तुलना करके वस्तुस्थिति को समझने में विशेष सहायता मिलती है । इस पद्धति से अवलोकन करने पर निष्कर्ष की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता । इसलिए राजनीतिक नेतृत्व को अभिव्यक्ति देने में भी मंडल शब्द से ही प्रयोजन सिद्ध होता है ।

भगवंतराय के मंडल के कई कवियों ने इस राजनीतिक चेतना एवं उसके नायक तथा सैनिकों के बलिदानों को अपनी रचनाओं से इतिहास की निधि बना दिया है । कवियों का यह सत्प्रयत्न इस मंडल की एक ऐसी अद्भुण्ण ऐतिहासिक परम्परा को

१- पेशवा दफ्तर० १४-पत्र स० ६

२- ता० हि० इ०, भाग ८ पृष्ठ-५०

३- बैस बीर बघेल सुरकी, चढ़त जंगन बाग मुरकी
सोमबंसी समर साने, कफन सिर पर बांधि बाने
पैज करत पंवार आए, दिखित गौर रठूर धाए
चाव चित चौहान चोपै, प्रबल बल परिहार कोपै
करषि खीची भयो आगै कुरी औ सब कोर लागै '
विरुदावली०

४- चन्देले चौंध बख्तरिय, बिसेने बैस कनपुरिया
अछे कछवास कलचुरिया चुने से सद सवारा हैं ।
जंगनामा०

मूर्तिमान करता है जो इस क्षेत्र के कणकण में व्याप्त होकर कई सहस्त्र वर्षों से निरंतर यहां के जन-मानस को अनुप्राणित करती आई है । अत: काव्य में वर्णित इतिहास को उसकी परम्परा की पृष्ठभूमि के साथ समझने में ही उसके साथ न्याय हो सकेगा ।

राजनीतिक मंडल का विस्तार

भगवंतराय के जन्म-काल (सन् १६८० के आसपास) के समय उनके पिता के पास कोई सम्पत्ति न थी । भगवंतराय के जन्म की घड़ी में मिले धन से उन्होंने तीन परगनों की जमींदारी खरीद ली थी ।[१] इसके अतिरिक्त निज पुरुषार्थ से वे इसका विस्तार सम्भवत: न कर सके होंगे । स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार भगवंतराय ने ही इसकी सीमा का विस्तार किया था ।[२] गाजीपुर के प्रसिद्ध पैनागढ़[३] पर अधिकार करके उन्होंने १७३२ ई० तक कोड़े की फौजदारी पर अपना झंडा गाड़ दिया था । इसके पहले वे पूर्व में इलाहाबाद की ओर बढ़े चुके थे ।[४] १७३३ में सरकार कोड़ा के ८ महाल[५] (४ फतेहपुर तथा ४ कानपुर जिले के) एवं कन्नौज सरकार के कई महालों को अधिकार में कर लिया था ।[६]

१- फतेहपुर० पृष्ठ १०२

२- कहा जाता है कि असोथर से दक्षिण के पूर्व जमुना के किनारे भसरौल ग्राम के कोकलिताराय से उसकी गढ़ी भगवंतराय ने सबसे पहले छीनी थी ।

३- ई० १७२२ के पूर्व ही इस स्थान को उन्होंने जीता होगा क्योंकि देव ने 'जैसिंह विनोद' में इस घटना का उल्लेख किया है ।

४- बंगश० पृष्ठ-३०५

५- कानपुर० पृष्ठ १६६ में कोड़ा-सरकार में ८ महाल बताये गये हैं । उनमें से ४ फतेहपुर जिले में व ४ कानपुर जिले के अन्तर्गत हैं । कोड़ा के फौजदार को मारकर भगवंतराय ने १७३३ ई० में उस पर अपना अधिकार करलिया था । देखिए मीरातुल०पृष्ठ १७० ब

६- कानपुर०पृष्ठ २०१ के अनुसार रसलाबाद कन्नौज सरकार के अन्तर्गत था । रसलाबाद की मालगुजारी के प्रश्न को लेकर भगवंतराय और सादत खां का युद्ध हुआ था । देखिए रासा०

इस प्रकार आज के फतेहपुर कानपुर के पूरे जिले तथा इलाहाबाद जिले का पश्चिमी भाग उनके अधिकार में था । इसके अतिरिक्त गंगा के उत्तर-पूर्व एवं यमुना पार के दक्षिण-पूर्व प्रदेशों में भी उनकी प्रभुता मान्य थी । अन्तर्वेद के पूर्ण शासित प्रदेश के अतिरिक्त प्रतापगढ़ के सोमवंशी, उन्नाव और रायबरेली के बैस, फर्रुखाबाद के राठौर, मैनपुरी-कानपुर के चौहान, इटावा-कानपुर के गौड़, हमीरपुर के पड़िहार, चित्रकूट के सोलंकी, बघेल खंड के बघेल उनके झंडे के नीचे आवश्यकतानुसार एकत्र होते थे ।[1] बुन्देलखंड में पन्ना और अजयगढ़ के बुन्देले भी उनके सहयोगी और मित्र राज्य थे ।[2] उनकी शक्ति के पीछे खड़ी होने वाली स्थानीय शक्तियों को मंडल के मान चित्र में चित्रित किया गया है ।

बुन्देल खण्ड-सीमा

उत्तर में यमुना से दक्षिण में पन्ना तक और पश्चिम में पचनदा-इटावा से ४८ मील दक्षिण पूर्व कुवांरी, चम्बल, घसान, बेतवा यमुना से पूर्व में टौंस तक है ।

विन्ध्य खंड

यहां की प्रमुख मिट्टी मार अथवा मरवा कही जाती है । यह गहरे काले रंग की और सूखने पर भुर-भुरी हो जाती है ।[3] इसकी समानता बहुत अंशों में दक्षिण की कपास-भूमि के साथ होती है ।

वर्षा की नमी को सुरक्षित रखने और खनिज सम्पन्न होने के कारण यह भूमि बड़ी उपजाऊ है । इसके अतिरिक्त काबर पडुआ और राकड़ भूमियां भी हैं । काबर चिकने महीन कणों से निर्मित होने के कारण वर्षा में गीली तथा सूखने में अत्यन्त कठोर होकर दरें फाड़ देती है । यह दोनों ही अवस्थाओं में हल के लिए कठिन रहती

१- विरुदावली० में जिन सहायक राजपूतों के नाम आये हैं, उनके ठिकाने इन्हीं जिलों के अन्तर्गत मिलते हैं ।

२- पेशवा दफ्तर; १४ पत्र संख्या ६

३- बांदा० पृष्ठ ६-७

है । इसीलिए इसे बुंदेलखंड की अत्यन्त अव्यावहारिक भूमि कहा गया है ।[१] पडुवा बालू की चट्टानों के टूटने से बनती है, इसलिए यह पहाड़ियों की तलहटी में पाई जाती है । राकड़ का अर्थ है पहाड़ी भूमि । आमतौर से बड़े बड़े कंकड़ों वाली भूमि के लिए यह शब्द व्यवहृत होता है । ढालू भूमि, कन्दराओं खोहों और नदी-नालों के बहाव के तट पर पाई जाती है ।

इस प्रदेश में बहने वाली पहूज, बेतवा, धसान, केन, वाग्मती, पयस्विनी, तथा टौंस का अपना सम्मोहक व्यक्तित्व मंडल के दूसरे भाग की नदियों से बिल्कुल भिन्न है । इनकी गति का संगीत पानी का दृश्यमान चटकीला रंग, निवासियों के जीवन में ओत-प्रोत हो गया है । इनके प्रवाह की वक्रता और जलके खारे पन ने यहां के पुरुषार्थ को संवारा एवं उसपर शान का पानी चढ़ाया है । लोक-काव्य आल्हा से प्रकट हो जाता है कि यहां का निवासी उस पानी के प्रति कितना जागरूक रहता आता है ।[२]

विन्ध्याचल की गणना सात कुल पर्वतों में की जाती है ।[३] इसकी उत्तरी श्रेणियां इस अर्द्धमंडल में फैली हुई हैं । मध्य युग में सुरक्षा की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व था । आध्यात्मिक उत्कर्ष में भी इस पर्वत पर लगने वाले संत मेलों से व्यापक प्रेरणा मिलती आई है ।

यहां की जलवायु समशीतोष्ण है । साल में दो फसलें होती हैं । खेती के अलावा यहां फल और जंगली वनस्पतियों से अनेक लाभदायक वस्तुएं प्राप्त होती हैं । इनकी भी उपज विशेषरूप से पर्वतीय घाटियों में ही होती है । मैदानों में तो तरह तरह की घासों तथा झाड़-झंखाड़ की ही बहुलता रहती है । घने छायादार वृक्षों की

१- बांदा ० पृष्ठ ६-७

२- ' कड़ुवा पानी है महुवे का ' जिसे मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रकार कहा है :

' पानी नहीं मानो मान पीते वहां मानी हैं- सिद्धराज, सर्ग-५

३- महेन्द्रो मलय: सह्य: शुक्तिमान ऋक्षपर्वत:
विन्ध्यश्चपारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वता: म० भीष्मपर्व - ६-११

छाया रास्तों में कठिनाई से मिल पाती है । वाणभट्ट ने इस प्रदेश की बड़ी ही सजीव झांकी प्रस्तुत की है । उसमें प्रवेश करते ही उन्होंने वन-वस्ती के चारों ओर के वन-प्रदेश पर दृष्टिपात किया जो उसका दूर से ही परिचय दे रहे थे । ..... किसान पेट पालने की चिन्ता में व्याकुल रहते थ.... कुदाली से गोड़कर परती जमीन तोड़ते और खेत के टुकड़े निकालते । भूमि कांश से भरी हुई थी । काली मिट्टी लोहे के तवे के समान कड़ी थी । ..... आने जाने वाले कम थे इसलिए पगडंडियां साफ न दिखाई पड़ती थीं ।[१]

दोआब (अन्तर्वेद) का भौगोलिक परिचय

यमुना के बायें तट से सरयू के समीप तक फैले हुए प्रदेश की मिट्टी एक-सी है । मंडल के इस खंड की भूमि हिमालय के उत्तुंग से निकली हुई नदियों द्वारा लायी हुई मिट्टी से बनी है । यह मिट्टी चिकनी दोमट और इसमें नमी सुरक्षित रहती है । यहां की भूमि बड़ी उपजाऊ है । कहीं-कहीं ऊसर और अनुपजाऊ भूमि भी मिलती है ।

इस अर्द्ध-मंडल की सीमाओं पर यमुना और सरयू जैसी महान् नदियों के प्रवाह हैं । मध्य में देश की धर्म-प्राण गंगा है जिसमें यमुना अपने को समर्पित करके उसके महत्व को और अधिक बढ़ा देती है । इन तीनों[२] सरिताओं के प्रति श्रद्धा और प्रीति से हमारा जातीय हृदय भरा हुआ है । इनके अतिरिक्त रिंद, सई, गोमती और बरना इत्यादि सरिताएं अन्य छोटी सहायक नदियों के साथ यहां के जन-जीवन को सरस और सप्राण किए हुए हैं । अधिकांश नदियां नावों से यातायात और व्यापार के मार्ग रह चुकी हैं । इस लिए यहां के निवासियों का सम्पर्क विस्तृत एवं आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि हुई है ।

यहां की भूमि में खरीफ और रबी दो फसलें होती हैं । गेहूं, जौ, चना, धान, तेलहन, ज्वार, बाजरा, मक्का, गन्ना आदि की कृषि प्रधान रूप से की जाती है । इस क्षेत्र में आम, अमरूद और महुए खूब फलते हैं । आम्र के तो जंगल ही थे । अब भी आम्र बागों की विपुलता है । फसलों के कारण यहां के खेतों में लगभग सभी ऋतुओं में

१- हर्ष ० सप्तम उच्छ्वास

२- समुद्र पत्न्योर्जल सन्निपाते पूतात्मना मत्र किलाभिषेकात्
तत्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजांनास्ति शरीर बन्धः - रघुः १३।५८

हरियाली बनी रहती है जिससे जीवन में उत्साह तथा आशा का संचार रहता है। मृदुल और सरस खान-पान के कारण बुंदेलखंड का ग्रामीण इस खंड को राजभूमि और अपनेखंड को तपोभूमि कहता है।[१] राजभूमि से आशय होता है राजाओं के भोजन योग्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली भूमि तथा तपोभूमि से आशय है तपस्वियों के से व्यवहार में आने वाले रूखा पदार्थों को उत्पन्न करने वाला प्रदेश।[२]

जलवायु की दृष्टि से समस्त मंडल अभिन्न है। इसकी स्थिति शीतोष्ण कटिबंध में है। वर्षा भी थोड़े बहुत स्थानीय अन्तर के अतिरिक्त समान रहती है। बुन्देलखंड भूमि गुण एवं वृक्षों की कमी के कारण अपेक्षाकृत शुष्क रहता है इसलिए वहां शीत और ताप में थोड़ी सी तीव्रता रहती है। इसके अतिरिक्त कोई भी अन्तर नहीं है। गर्मी, वर्षा और जाड़ा - तीन मौसम तथा छः ऋतुओं (वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरत, हेमंत और शिशिर) का चक्र चलता है।[३] जलवायु आर्द्र और मध्यम है। यहां की ऋतुओं का अनुभव निवासियों के जीवन में बड़ी गहराई से होता है। ऋतुओं की यह परिवर्तन-शीलता मानव जीवन के लिए वरदान है क्योंकि इनके कारण नीरसता और उदासीनता से बचकर उत्फुल्लता का संचार होता है। मनुष्य की कार्यक्षमता से इसका सीधा संबंध है। हमारे लोक जीवन के खान-पान, रहन-सहन, उत्सव-पर्व, व्याह, युद्ध विश्राम इत्यादि पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

निवासी

यह मंडल विन्ध्य श्रृंखला के उत्तरी भाग में आता है, अतः यहां आर्य रक्त की प्रधानता है। यत्किंचित सम्मिश्रण भी स्पष्ट है। निरंतर सम्पर्क के कारण इतर जातियों में भी आर्य रक्त का प्रवेश हुआ है।

१- 'ईंधन पात किरात मिताई' से तुलना कीजिये, तुलसी ने ऐसी ही व्यजंना की है।

२- बुंदेलखन्ड के अन्न बहुत रूखे होते हैं। यहां का कठिया गेहूं भी ज्वार की बराबरी करता था। अब उसकी पैदावार कम हो गई है।

३- वृहत इति० भाग-१, पृष्ठ १५

सवर्ण जातियों के अलावा असवर्ण जाति के लोगों का यहां की जनसंख्या में महत्वपूर्ण स्थान है। असवर्ण जातियों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है (१) जो कृषि कर्म में उच्च वर्णों की सहायता करती हैं और उन्हीं के साथ बस्तियों में ही रहती आई हैं, (२) जो अपेक्षाकृत स्वतंत्र और स्वच्छन्द रहने की अभ्यस्त रही हैं। गांवों से दूर हटकर शिकार अथवा जंगल में लकड़ी इत्यादि के उद्यम की ओर इनकी विशेष प्रवृत्ति रही है। शूद्र अथवा अवर्ण कही जाने वाली अनेक जातियां पहली श्रेणी में तथा दूसरी में शबर, किरात, कोल एवं बहेलिया इत्यादि हैं।

आर्य और आर्येतर आदिम जातियों में संघर्ष और सम्मिश्रण तथा सहयोग होता रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस सहयोग के प्रमाण मिलते हैं। राम के वनगमन पर निषाद राज का आत्म-समर्पण, चित्रकूट में वन्य जातियों द्वारा सेवा सत्कार, लंका-विजय में राम की सहायता, कर्ण की निषाद द्वारा परिचर्या और पालन-पोषण, घटोत्कच और पांडवों का सहयोग आदि प्रसंग इस अन्तर्जातीय सहयोग की पुष्टि करते हैं। बाण ने हर्ष-चरित्र में विन्ध्यप्रदेश के राजकुमार व्याघ्रकेतु के साथ ही शबर सामंत की चर्चा की है।[१]

गुप्त काल में राजाओं की शक्ति की ये जातियां स्तंभ थी। कठिनतर कार्यों को सम्पादित करने की इनमें अद्भुत योग्यता और क्षमता थी।[२] इस मंडल में अहीर,

---

१- हर्षचरित अष्टम उच्छ्वास

२- 'अशोक के फूल' संग्रह पृष्ठ ३४ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "मुझे श्री भगवतशरण जी उपाध्याय ने बताया है कि गुप्त नरपतियों के लेखों में दु:साध्य साधन करने वाली जिस जाति का उल्लेख है उन्हीं का वर्तमान रूप यह दुसाध जाति है।"
उसी लेख में अहीरों को भी उत्तर भारत की अत्यन्त लड़ाकू जाति की संज्ञा दी है। वही - पृष्ठ ३४

लोध[1], पासी[2] और बहेलियों[3] की अच्छी आबादी है । भगवंतराय के सम्बंध इन साहसी जातियों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ थे ।

मंडल की बोलियां

इस मंडल में भौगोलिक विविधता के साथ-साथ विभिन्न बोलियों के समूह भी शामिल थे । कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी और बुन्देली बोलियों के क्षेत्रों के विभाजन की दृष्टि से भी गाजीपुर-असोथर (मंडल का केंद्र) की स्थिति संगमस्थल पर है । कई बोलियों की सीमायें वहां आकर टूटती हैं । कन्नौज से लेकर कानपुर को पार करते हुए

१- असोथर के आस पास लोधों की अच्छी आबादी है । यह बड़ी वीर जाति है । भगवंतराय के साथ इनके बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्ध थे । छत्रशाल के साथ भी लोधों के निकट सम्बन्ध थे । उन्होंने तो इन्हें राजपूतों के समकक्ष मान लिया था । संभव है भगवंत राय ने भी इनको ऐसा ही कुछ सम्मान दिया हो क्योंकि, फतेहपुर के लोध भी अपने को सिंह लिखते हैं । 'हिन्दू कास्ट एन्ड ट्राइब्ज्' के पृष्ठ ५० में इन्हें बड़ा ही प्रतिशोधी और उग्र बताया गया है ।

२- कागा घुरघुच मारिये भाठा खोदि सियार
अहिर फड़ूला मारिए पासी नार क्वार ।

असोथर गांव में किले के पास ही इनकी अच्छी आबादी थी । ये फीलवान का काम अधिक करते थे । शारीरिक शक्ति-साहस के लिए इनसे सम्बंधित कई कहानियां सुनाई जाती हैं ।

४- बहेलिया तीरन्दाजी के लिए विख्यात थे । गाजीपुर के किले के नीचे ही इनका छोटा सा गांव था, जो अब भी बहेलियन का पुरवा नाम से विख्यात है परन्तु अब वहां केवल एक घर बहेलिया है ।

कन्नौजी का क्षेत्र लगभग वहीं तक पहुंच गया है । इस क्षेत्र के बाहर (उत्तर पश्चिम) ब्रजी का विस्तार है । उन्नाव और रायबरेली से फैलता हुआ बैसवारी का प्रभुत्व भी हमारे मंडल के केंद्र बिन्दु तक अपना प्रभाव छोड़ता है । इसके उत्तर-पूर्व की बाहरी सीमा में अवधी का साम्राज्य है । दक्षिण पूर्व(बघेल खंड) की ओर बघेली से निकट सम्पर्क तथा दक्षिण-पश्चिम में बुन्देली से मैत्री है । यमुना के किनारे-किनारे इन सब भाषाओं के संघात से तिरहारी का अपना निराला अस्तित्व बना है ।

मंडल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(अतीत काल से राजनैतिक चेतना का प्रवाह) : वैदिक काल में ही आर्य कई ग्रामों को `विश` और कई विशों को जन में संगठित कर चुके थे ।[1] बुद्ध के समय तक इन जनों की सीमा का भी प्रस्तार हो कर शक्तिशाली जनपदों (राज्यों) की स्थापना हो चुकी थी । इस युग में हमारे मंडल की धरती पर अत्यन्त शक्तिशाली जनपदों का उल्लेख मिलते हैं । बुद्ध युग के इतिहास के मान चित्र में यदि हम इस मंडल की सीमा को अलग करना चाहें तो वह वत्स, काशी, कोशल, पांचाल तथा चेदि के प्रस्तारों के भीतर से निकालनी पड़ेगी । तत्कालीन इतिहास के प्रमुख जनपदों की सीमा में होने से यहां की गौरवशाली ऐतिहासिक परम्परा का एक निश्चित निदर्शन होता है । यहां के लोक हृदय में जन्मभूमि के लिए अतुलित प्रेम उद्भूत हुआ जिसकी अभिव्यक्ति `जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी` में निबद्ध हुई है । जनता ने इस अनुभूति से प्रेरित होकर जन्मभूमि के लिए अपने बलिदानों से भारी मूल्य चुकाया होगा (जिनके अधिकृत प्रमाण न होने पर भी स्वीकृति के लिए सूचनाएं अवश्य उपलब्ध हैं । तदनुसार निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि देश अथवा राष्ट्र का प्रेम अतीतकाल से ही जनपद-जीवन में गहरे उतर चुका था ।[2] जिस जन्मभूमि के लिए जनता ने

१- एनसियेंट इंडि० पृष्ठ ३५

२- `दुर्भाग्य से हमारे पास शक, पल्लव और कुशन लोगों के प्रतिरोध में किये गये संघर्षों के विवरण नहीं हैं, परन्तु यौधेय तथा मालवों आदि द्वारा अपनी स्वतंत्रता के लिए दशकों तक जो संग्राम लड़े गये हैं, उनके स्फुट विवरण अवश्य प्राप्त हैं` एनसियेंट इंडि० पृष्ठ ७१-७२

शताब्दियों तक संघर्ष किया, अपना रक्त बहाया, और अपने सर्वस्व की बाजी लगाई वह एक रागात्मक[1] संबंध की गहरी नींव दे गया । काल-गति के साथ यह गरिमामय परम्परा निरंतर समृद्धि को प्राप्त होती रही ।

मौर्य राज्य के विस्तार होने पर ये जनपद उसके गर्भ में समा गए । तत्पश्चात् चौथी शताब्दी के मध्य में इन प्रदेशों की शक्तियां हमारा ध्यान तब आकर्षित करती हैं, जब समुद्र गुप्त ने बुन्देलखंड के प्रथम वाकाटक रुद्रदेव[2] से तथा अन्तर्वेद प्रदेश के अच्युत[3] से संघर्ष करके उन्हें पराजित किया । वाकाटकों की शक्ति गुप्त काल में दबी नहीं अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती गई । चन्द्र गुप्त द्वितीय ने[4] इनके साथ संधि की थी । वाकाटकों के उपरान्त चन्देलों के उदय (९वीं शताब्दी) के पूर्व का बुंदेलखंड का इतिहास प्रकाश में नहीं आया है । बहुधा वह प्रदेश पड़ोस के बलिष्ठ प्रदेशों के अधीनस्थ रहा है । चन्देल ही इस प्रदेश के अन्तिम हिन्दू शासक थे, जो बारहवीं शताब्दी के अन्त में टूट गए । अपने दीर्घकालीन शासन में उन्होंने..... बुन्देलखंड को मंदिरों तथा पक्की झीलों से प्रभूत सुंदर किया[5] दूसरी ओर कन्नौज में मौखरियों (५ वीं ६वीं शताब्दी) के साथ ही एक प्रबल शक्ति का अभ्युदय हुआ । हर्ष के समय में डा० रामशंकर त्रिपाठी के शब्दों में उसे प्रकट करना अनुपयुक्त न होगा । "कन्नौज की महत्ता और समृद्धि जो मौखरियों के समय में बढ़ी थी, हर्ष के शासनकाल में आकाश चूमने लगी । अब उत्तर भारत का प्रमुख नगर कन्नौज था और वह उस पाटलिपुत्र का गौरव और शक्ति में स्थानापन्न हो गया था,

---

१- गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भवन्ति भूय: पुरुषा सुरत्वात, विष्णु० २।३।२४

२- प्रा०भा० पृष्ठ १८३

३- अच्युत... संभवत: वह अच्चु है जिसका नाम बरेली के अहिच्छत्रा(रामनगर) से मिले सिक्के पर खुदा है । प्रा०भा० पृष्ठ १८४

४- प्रा०भा० पृष्ठ १९०

५- प्रा०भा० पृष्ठ २८२

जिससे होकर बुद्ध के ही समय से राजनीतिक जीवन का स्रोत बहा करता था ।"[१] तदुपरान्त मशोवर्मन(७२५-५२) और उसके अनंतर यहां आयुधे कुल प्रतिहार और राष्ट्र-कूटों(राठौर) के राज्य स्थापित हुए । राठौरों के अन्तिम राजा जयचन्द्र की पराजय से यहां की सुगठित शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई । परिणाम स्वरूप इस मंडल की समस्त भूमि दिल्ली में मुसलमान शासन के स्थापित होते ही उसके हाथों में चली गई ।

इतिहास के आदिकाल से जनपदों की गौरवशाली परम्परा की स्थापना के के फलस्वरूप यहां का नागरिक प्रकृतरूप से देश प्रेम में दीक्षित हुआ है । फलस्वरूप अवसर आने पर यहां का निवासी अपने को देश के लिए बलिदान करने में कभी कृपण नहीं हुआ । अनंगपाल के आमंत्रण पर महमूद गजनी के विरुद्ध कन्नौज और कालिंजर दोनों ही केंद्रों से सेनायें भेजी गई थी ।[२] कालिंजर के राजा विद्याधर ने कन्नौज के राज्यपाल के ऊपर इसी लिए आक्रमण करके उसका वध किया कि उसने विदेशी महमूद की दासता स्वीकार करने का अपराध किया था ।[३] लोक काव्य आल्हा के ' आल्हा मनौआ खंड ' के एक कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि जन्मभूमि के लिए यहां का निवासी अपने व्यक्तिगत मानापमान को अथवा व्यक्तिगत प्रश्नों को किस प्रकार अलग रखकर आचरण करता था । आल्हा और ऊदल को महोबे के चन्देल राजा परमाल ने देश से अपमानित करके निकाल दिया है । वे कन्नौज के राजा जयचन्द पर आजीविका के लिए निर्भर हैं । पृथ्वीराज इसी अवसर पर महोबे पर आक्रमण कर देता है । कोई अन्य रास्ता न देख रानी मल्हना के कहने से जगनिक को भेज कर परमाल आल्हा-ऊदल को सहायता के लिए बुलाते हैं । अपनी सारी कटुता को भूलकर उन्हें महोबे की पवित्र भूमि पर पड़े संकट का स्मरण हो

१- प्रा० भा० पृष्ठ २२६

२- मुस्लिम रूल० पृष्ठ ४७-४८

३- मुस्लिम रूल० पृष्ठ ५०

आता है ।[१] उस भूमि के लिए अपने समस्त व्यक्तिगत प्रश्नों को भुलाकर जीवन तक को होम देने के दृढ़ निश्चय के साथ दोनों सामन्त पृथ्वीराज चौहान से युद्ध करते हैं । आल्हा की ऐतिहासिकता चाहे जो कुछ हो किन्तु देश-प्रेम की यह अनुभूति लोक-हृदय ने अवश्य की होगी । इतिहास की परवर्ती घटनाएं इस की पुष्टि के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं । मुस्लिम शासन की अधीनता ने यहां की शक्ति को तोड़ कर क्षितरा अवश्य दिया, किन्तु वह यहां की जनता की आत्म-चेतना को नहीं कुचल सकी । ऐतिहासिक अन्तर्चेतना ने जनता को बार बार विद्रोहों तथा बलिदानों के लिए सन्नद्ध किया और साम्राज्य के अस्तित्व को चुनौती दिलवाई । शताब्दियों के मुस्लिम शासन में आये दिन इसके परिणाम स्वरूप भीषण संघर्ष खड़े हुए हैं । स्वयं बलबन जैसे प्रभाव-शाली सम्राट को १२ वर्ष के भीतर चार बार[२] यहां के विद्रोहों से लोहा लेना पड़ा था । बलबन के समय से ही अन्तर्वेद(दोआब) साम्राज्य का सबसे अधिक अवशीभूत प्रदेश रहा है । इटावा के जमींदार, कटेहर के राठौर एवं कन्नौज और बदायूं के लोग राज्य-कर रोककर केंद्रीय सत्ता की अवहेलना करते थे । उनके विरोध इतनी दृढ़ता के साथ होते थे कि दमन और दंड के लिए बार बार अभियान करने पड़ते थे ।[३] अपनी इस स्वाभाविक क्रान्ति-प्रियता के लिए निवासियों को कितने भारी मूल्य चुकाने पड़ते थे यह भी इतिहास में देखने को मिल जाता है । फिरोज जंग के समय की घटना है । ` सन १३७७ ई० में फिरोज जंग इटावा जिले की क्रान्ति के दमन में व्यस्त था । इस प्रदेश में राज्यकर कठिनाई से वसूल हो पाता था । वह भी सशस्त्र सेना की सहायता से ।.... उसी वर्ष साधारण रूप से शान्ति प्रकृति का वह व्यक्ति कटेहर के राजा खड़कू से प्रतिशोध लेने की ज्वाला में उबल पड़ा । राजा ने बदायूं के सैय्यद गवनेर को उसके दो भाइयों सहित अपने यहां आमंत्रित करके निर्दयता पूर्वक उनका बध कर दिया ।.... मार्च, १३८० में फिरोज जंग ने कटेहर की ओर प्रस्थान किया जहां उसने हिन्दुओं के सामूहिक संहार की

१- चढ़यो पिथौरा है दिल्ली से सब मुहवे कौलीन घिराय
जौना जहबे हम महुबे को पिरथी लैहै सबै लुटाय.... ।
आल्हा मनौआ खंड

२- कैम्ब्रिज ० भाग-३, पृष्ठ ६७-६८

३- मुस्लिम रूल० पृष्ठ २२७

आज्ञा दे दी । यह नरसंहार इतना भीषण था कि एक इतिहासकार ने यहां तक लिखा है कि स्वर्ग से स्वयं उन सैय्यदों की आत्माओं ने आकर संहारितों की ओर से प्रार्थना की । खड़कू कुमायूं की ओर भाग गया जिसका शाही सेना ने पीछा किया । पता लगाने में विफल वह सेना उन अभागों के लिए लौट आई जिनकी एक बहुत बड़ी संख्या मारी जा चुकी थी और जिनमें से २३,००० बन्दी बनाकर दास बना लिए गये थे । वर्षा ऋतु के आगमन के कारण फिरोज को दिल्ली लौटना पड़ा किन्तु उसकी आत्मा अब भी रक्त की प्यासी थी । दिल्ली जाने के पूर्व उसने एक अफगान को संभल का गवर्नर बनाया और आज्ञा दी कि प्रत्येक वर्ष कटेहर को आग और तलवार से वीरान कर दिया जाये । आगामी पांच वर्षों तक प्रतिवर्ष वह स्वयं आकर उस अफगान के कार्यों का निरीक्षण करता तथा रक्तपात की कमी को स्वयं पूरा करता था । उन दिनों न तो एक भी एकड़ भूमि में खेती की गई न कोई व्यक्ति घर में सो सका । तीन सैय्यदों की मृत्यु का बदला अगणित हिन्दुओं के प्राण लेकर पूरा हुआ ।[१]

इन परिस्थितियों से पार होने के बाद भी यहां के निवासियों की आत्मा पराजित नहीं हुई । कटेहर के राजपूत इस नरमेध की अग्नि के बाद भी अपनी स्वभाव सिद्ध प्रकृति से वियुक्त नहीं हुये । नासिरुद्दीन(१३९४) के सिंहासनारूढ़ होने के समय कन्नौज से लेकर बिहार तक के प्रदेश में उथल-पुथल थी । अनेक जमींदारों के प्रमुख अपनी सीमा के भीतर स्वतंत्र रीति से शासन करते थे ।[२] जौनपुर के शासन के संस्थापक ख्वाजा मलिक शर्क को भी अन्तर्वेद (दोआब) के विद्रोहों का सामना करना पड़ा था । १४१४ से १४२१ ई० तक खोर (शमशाबाद जिला फर्रुखाबाद) कंपिला, तथा साकिल में(इटावा से १२ मील दक्षिण-पूर्व) विद्रोह होते ही रहे ।[३] मुबारकशाह के समय में कटेहर के राजपूतों ने पुन: अपने दुर्जेय अस्तित्व की घोषणा की ।[४] इस धरती की यह गौरवशाली परम्परा

१- कैम्ब्रिज० भाग-३ पृष्ठ १८३

२- तुलना कीजिये मुस्लिम रूल० पृष्ठ १७३

३- मुस्लिम रूल० पृष्ठ २३०

४- मुस्लिम रूल० पृष्ठ २३६

अबाध रूप से प्रवाहित रही है । अकबर[1] और औरंगजेब के सामने भी यहां की समस्या खड़ी हुई थी ।

मंडल के दूसरे भाग बुंदेलखंड की भी इतिहास में अपनी विशिष्टता रही है । चन्देलों के पतन के उपरान्त इस धरती पर अविराम स्वातंत्र्य-चेतना का सूत्रपात १४वीं शताब्दी में बुन्देलों के अभ्युदय के साथ हुआ है । अकबर के समय में इस जाति की शक्ति का पूर्ण विकास था और वह केंद्रीय राजनीतिक संघर्षों में प्रमुख स्थान रखती थी । इनकी प्रबल शक्ति से लगभग सभी मुगल शासकों को मुठभेड़ करनी पड़ी है । कभी इन्हें मित्र बनाया गया है, कभी आपस में ही फोड़-तोड़ कर लड़ाया गया है, कभी इनको उखाड़ फेंकने का प्रयास किया गया है । इस प्रदेश की अन्तर्निहित शक्ति को संगठित करने और उसका नेतृत्व करने का सर्वाधिक गौरव महाराज छत्रशाल को है । इतिहास इनके प्रयत्नों को चिरस्मरण रखेगा ।

भगवंतराय के समय की ऐतिहासिक स्थिति

(औरंगजेब की शासन-नीति और उसकी प्रतिक्रिया) : भगवंतराय के विद्रोही व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि थी औरंगजेब की शासन-नीति । उनके ऐतिहासिक प्रयत्नों में इसी शासन-नीति की प्रतिक्रिया की समर्थ प्रतिष्ठा हुई है । अतएव यहां उस शासन के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है जिसने आगामी एक शताब्दी से अधिक के भारतीय इतिहास की धारा ही बदल दी थी ।[2]

१- आईन० पृष्ठ ४८७ तथा केशव कृत `जहांगीर जस-चन्द्रिका`

२- ईसा की १८वीं तथा प्रारम्भिक १९वी० शताब्दियों की प्रमुख ऐतिहासिक धाराओं का प्रारम्भ औरंगजेब के शासन-काल में उसकी नीति के कारण ही हुआ । औरंग० पृ०२

औरंगजेब प्रारम्भ से ही हिन्दू धर्म के प्रति असहिष्णु था ।[१] दिल्ली के राज सिंहासन को जीत लेने के उपरांत तो उसकी स्वाभाविक धर्मान्धता की नीति ने सम्पूर्ण देश को क्षुब्ध कर दिया । उसने अकबर जैसे उदार पूर्वज की नीति के प्रतिकूल इस्लामी धर्म ग्रन्थों की शासन पद्धति को भारतवर्ष में लागू करके उसकी सफलता के लिए हर संभव प्रयत्न किया । इसी की सिद्धि उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य था । समय समय पर दी गई राजाज्ञाओं एवं व्यक्तिगत रूप से लिखे गये पत्रों[२] में इसके प्रमाण ही प्रमाण भरे हैं । फलस्वरूप काफिरों को रास्ते पर लाने के लिए शासन के संगठित प्रयत्नों का चक्र चलने लगा ।

हिन्दू उत्तरदायी पदों से वंचित किए जाने लगे ।[३] उनकी धर्म-भावना को तिरस्कृत एवं उस पर आघात करने के लिए मंदिरों को तोड़ कर अपवित्र करने के आदेश जारी किए गए । सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर प्रतिबंध लगाए गए ।[४] अन्त में जजिया लगाकर आर्थिक पीड़ा देने के अतिरिक्त उनकी (हिन्दुओं की) धार्मिकता पर आघात किया गया । जिन तत्वों[५] को हिन्दू समाज ने सर्वोच्च स्थान दिया था उन्हीं मर्मस्थलों पर प्रहार करना शासन का प्रधान कर्त्तव्य हो गया । दिल्ली की राज्य-शक्ति

१- तुलना कीजिये औरंग० पृष्ठ १६३

२- गोलकुंडा राजदरबार में अपने राजदूत के नाम लिखा गया औरंगजेब का पत्र - औरंग० पृष्ठ २५३

३- १६७१ ई० में एक हुक्म इस आशय का निकला कि राज्य के कर वसूल करने वाले सब मुसलमान ही हों । सब शासकों और ताल्लुकदारों को भी आज्ञा दी गयी कि वे अपने हिन्दू पेशकारों और दीवानों को निकाल कर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करें । औरंग० पृष्ठ १६८-१६६

४- हिन्दुओं के होली और दिवाली त्यौहार मनाने के बारे में भी हुक्म हुआ था कि वे बाजार से बाहर और वह भी बहुत ही नियंत्रित रूप में मनाए जावें । औरंग० पृ० २००

५- 'सबसे कठिन जाति अपमाना ' तथा ' हरिहर निन्दा सुनै जो काना'
पापताहि गोघात समाना ' मानस०

उस यंत्र की भांति जड़ तथा संवेदनविहीन हो गई जिसका स्वभाव और व्यापार अपरिवर्तनशील तथा एक विशेष प्रकार के सांचे में ढला हुआ होता है । इस का एक ही उद्देश्य था, काफिरों को तबाह करके उन्हें कुरान के अनुसार धर्म राज्य का नागरिक बनाना ।[१] शासन प्रजा के कष्टों को देखता सुनता यह तो दूर रहा अपितु वह प्रजा को निवेदन तक की भी छूट नहीं प्रदान करता था ।[२]

औरंगजेब के शासन काल में केंद्रीय राज्य की सीमा का अभूतपूर्व विस्तार[३] हो गया जिसके सामने यहां वहां बची हुई छोटी-छोटी शक्तियां बिल्कुल नगण्य थीं । मुगल राज्य की विशाल वाहिनी से टक्कर ले सकने की उनमें से किसी में भी सामर्थ्य नहीं रही थी ।[४] इसके अतिरिक्त केंद्रीय शासन में थोड़ा बहुत स्थान और पहुंच रखने वाले जो दो एक हिन्दू सामन्त थे वे भी प्रारम्भिक २० (बीस) वर्षों के अंत तक उठ[६] चुके थे ।[५] इन रास्तें के रोड़ों के साफ हो जाने से मन में हिचकिचाहट की भी संभावना जाती रही । अब केवल कट्टर और धार्मिक जोश से उत्तेजित रहने वाले मुसलमान अधिकारी ही साम्राज्य की नीति के कर्णधार थे । इनके अत्याचार के कारण सारा देश संत्रस्त[७] था । हिन्दू राजाओं की शक्तियों के टूट जाने के कारण अब सम्पूर्ण जाति निराश हो गई थी ।

१- तुलना कीजिये औरंग० पृष्ठ १८०

२- खलीफा बादशाह ईश्वर की ही प्रतिच्छाया (जिल्लाह सुभानी) होता है और ईश्वर के दरबार में क्यों या कैसे पूछने की बात ही नहीं होती । औरंग० पृष्ठ ६०५

३- औरंग० पृष्ठ १-२

४- देवल गिरावते फिरावते निसान अली
ऐसे समै राव राने सबै गए लव की । भूषण

५- मिर्जा राजा जयसिंह का ग्लानि और अपमान की पीड़ा से संतप्त शरीर दक्षिण में ही छूट गया तथा पश्चातसिंह के निधन (१६७६) ने पूर्णतया हिन्दू प्रभाव को समाप्त कर दिया । औरंग० पृ० २१२ तथा पृष्ठ ३२३

निराशा के इसी घोर अंधकार के गर्भ से लोक-चेतना में क्रान्तिकारी आलोक किरणें प्रस्फुटित हुईं । सम्पूर्ण हिन्दू जाति ने पहली बार एक व्यापक स्तर पर शास्त्रों और धार्मिक स्वप्न लोकों से उतर कर शस्त्र ग्रहण कर यथार्थ को पहचाना तथा अपने दुर्द्धर्ष अस्तित्व की घोषणा की । दैवी देवताओं पर ही अपने भाग्य की निर्भरता को अब प्रणाम किया जाने लगा था ।[1] इन सब से ऊपर उन्होंने उस मानवीय शक्ति को पहचान लिया था जिसे अपनी तथा अपने दैवी देवताओं के भी सम्मान की रक्षा करनी थी । समाज ने साफ साफ देख लिया था कि मथुरा और काशी का सम्मान मनुष्य के द्वारा ही रक्षित हो सकता है, हिन्दू धर्म की रक्षा देवता नहीं अपितु उन्हीं के बीच का कोई व्यक्ति कर सकता है ।[2] फलस्वरूप इतिहास के इस संक्रान्ति काल में मानवीय शक्ति की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि महत्व मिला ।

हिन्दुओं में देशव्यापी जागृति

औरंगजेब का व्यक्तित्व असामान्य था । उसमें व्यक्तिगत गुण[3] भी प्रभूत मात्रा में थे जिनके कारण उसका स्थान भारत के शासकों में बहुत ऊंचा है । साथ-साथ उसकी हठधर्मिता असहिष्णुता एवं धर्मान्धता भी अपूर्व थी । ५०, ६० वर्षों के उसके शासन काल में देश के भीतर अथक संघर्षों की वेदियां सजती रहीं । न तो बादशाह ने झुकना स्वीकार किया और न जनता ने हार मानीं । शासन ने यदि मथुरा को इस्लामाबाद[4] बनाना चाहा तो वहीं से किसान जाटों की सजग शक्ति ने प्रतिरोध किया और इतने शक्तिशाली सम्राट् के सिंहासन के नीचे ही अकबर के मकबरे को नष्ट कर के मंदिरों की

१- गौरा गनपति आप औरंग को देखिताप
आपने मुकाम सब मारि गए दब की - भूषण

२- भूषन भनत भाजे कासीपति विश्वनाथ
और का गिनाऊं नाम गिनती मैं अब की
दिल में डरन लागे चारों बर्न ताही समै
सिवाजी न होते तो सुनति होती सबकी - भूषण

३- उसका निजी जीवन बहुत ही सादा निष्कलंक तथा धार्मिकतापूर्ण था ।
औरंग० पृ० ५६८

४- औरंग० पृ० १६५

भ्रष्टता का बदला चुकाया ।[1] गुरु तेग बहादुर की हत्या का बदला चुकाने के लिए सिक्खों ने अपनी परम्पराही बदल दी और शासन की अनीति का सामना करने के लिए अपने संगठन को सैनिक रूप ही दे डाला[2]। मारवाड़ के राज्य पर हावी होने के अनाधिकारपूर्ण प्रयास को राजपूताने ने एक स्वर से असफल करने के संगठित प्रयत्न किए । यह संघर्ष निरन्तर ३० वर्षों तक चलता रहा ।[3] बुंदेलखंड में छत्रशाल ने बुंदेला जाति को संगठित करने में निष्ठा के साथ आजीवन अपने व्रत का निबाहा । महाराष्ट्र में तो शिवाजी ने जागरण के ऐसे प्राण फूंके कि वह, आगामी कई दशकों तक प्रबल से प्रबलतर होता हुआ दिल्ली तक फैल गया । मुगल शासन की विरोधिनी शक्ति इस काल में किसान जनता से संगठित होकर खड़ी हुई थी, इसलिए इतने बड़े शासन के सामने वह दुर्द्धर्ष बनी रही और अपने विरोधी को जर्जर एवं खोखला कर गई । हिमालय से लेकर दक्षिण महाराष्ट्र तक ऐसे आन्दोलनों की जो एक स्वरता थी वह प्रबल एवं सामूहिक जन-जागरण को प्रमाणित करती है । जनता ने नृशंस शासन के स्वरूप की संगति पुराण कथाओं के साथ मिलाली थी एवं उसे असुर राज्य का नाम देने लगी थी ।[5] शासन की दृष्टि में प्रजा काफिर थी और प्रजा की दृष्टि में शासन आसुरी एवं स्वयं बादशाह असुर कुंभकर्ण था । दूसरी ओर प्रतिभाशाली जननायकों को श्रद्धावश, उनके धर्म परित्राणक गुण के कारण जनता ने अवतार की महिमा से अभिषिक्त किया[6] साकारोपासक जनता ने अपनी सम्पूर्ण परिस्थितियों की एक व्यावहारिक व्याख्या की और स्वयं अपनी

१- औरंग० पृ० ५११

२- तुलना कीजिये औरंग० पृ० २०८

३- तुलना कीजिये औरंग० ५०३

४- ' छत्रशाल के विद्रोही हो जाने का समाचार सुनकर (सन् १६७१ ई० में) बुंदेलों में नए उत्साह का संचार हो गया ।' औरंग० पृ० ५४६

५- कुंभकर्न औरंग को औनि अवतार लैके
मथुरा जराइकै दुहाई फेरी रब की' - भूषण

६- तुम सिवराज वृजराज अवतार आज,
तुमहीं जगत-काज पोषत भरत हौ ' - भूषण

शक्ति पर सन्नद्ध हुई । इस आस्था से नेताओं तथा जनता में आत्मबल की वृद्धि हुई । हिन्दू जनता अब मुसलमानी शासन से पूर्णतया निराश हो चुकी थी । औरंगजेब ने उसका नग्नतम रूप प्रस्तुत करके हिन्दुओं को स्थायी शत्रु बना लिया था । वह प्रत्येक मूल्य पर इसे तोड़ कर फेंक देना चाहती थी, इसलिए समस्त आपत्तियों को[1] झेलते हुए अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में प्रवृत्त रही । ` हिन्दू पद ` की कल्पना का भी इसी परिस्थिति में सूत्रपात हुआ था; सम्पूर्ण देश किसी भी प्रकार इस की सिद्धि के लिए लालायित एवं भारी से भारी मूल्य चुकाने को प्रस्तुत था । जो भी हिन्दू नायक मुस्लिम शासन को उन्मूलित करदे उसी के मस्तक पर गौरव टीका लगाने के लिए हिन्दू जगत प्रस्तुत था ।[2] मराठों द्वारा नोचे खसोटे जाने पर भी उत्तर भारत के महत्वाकांक्षी प्रमुखों ने बार बार मराठा शक्तियोंको जो आमंत्रित किया उसके भीतर यही रहस्य था। ` स्वधर्मे निधनं श्रेय: ` की मान्यतानुसार अपने बान्धवों से लूटा जाना भी स्वीकार था ।

औरंगजेब के बाद धार्मिक तनातनी का वातावरण समाप्त नहीं हुआ ।[3] मारवाड़ के अजित सिंह का अजमेर की प्रसिद्ध मस्जिद को गिराना एवं भ्रष्ट करना प्रसिद्ध है । स्वयं भगवंतराय ने जानिसार खां के साथ[4] धार्मिक मामले को लेकर ही युद्ध किया था । गाजीपुर पर आक्रमण करके लौटते समय कमरुद्दीन खां मथुरा में उत्पात करते हुए दिल्ली पहुंचा था,[5] जो सभी हिन्दुओं को अखर गया था । धर्म के नाम पर शासन से मुठभेड़ लेने वाले वीरों के प्रति लोक अत्यधिक श्रद्धा और सम्मान प्रकट करता था एवं उन हिन्दुओं को आश्चर्य तथा निरादर की दृष्टि से देखता था जो इन वीरों के विरोध में सहधर्मी होकर भी

१- दक्षिण और मारवाड़ में जहां शासन-विरोधी संघर्ष दीर्घकाल तक चले थे वहां की दशा बहुत ही बिगड़ गई थी । फिर भी प्रतिरोध के लिए वहां की जनता का दृढ़ रहना यह प्रकट करता है कि उनकी शासन-विरोधी संकल्प-शक्ति बहुत ही दृढ़ थी । तुलना कीजिये औरंग० पृष्ठ ४१५ तथा पृष्ठ ५०३

२- महाबली भगवंत कंठ कवि कहै याते
तौही पै रही है आज लाज हिन्दूपद की ` - कंठ कवि

३- मीरातुल० पृष्ठ १७० ब

४- पेशवा दफ्तर० १४ पत्र संख्या ६

५- ` गुन कर्न अर्जुन भीम के भगवंतराय भुवाल में ` - विरुदावली तथा शिवा जी के सम्बन्ध में भूषण की अनेक उक्तियां मिलती हैं ।

खड़े होते थे ।[१] हिन्दुओं का यह जातीय संगठन महाराज शिवाजी के समय में ही स्थापित हो गया था । महाकवि भूषण की वाणी ने इसकी स्पष्ट व्यंजना की है :-

काल मही सिवराज बली हिन्दुआंन बढ़ाइबे कौ उर ऊटै
भूषण भू निरम्लेच्छ करी वहै म्लैच्छन मारिबे कौ रन जूटै
हिन्दु बचाए इही अमरेस चंदावत लौं कोउ टूटै सो टूटै
चंद अलोक तिलोक सुखी यह कोक अभाग जो सोग न छूटै । २५४

'भूषण'

चंदावत के टूटने(विरोधी बनने) पर कवि की वाणी से जो क्षोभ व्यक्त हुआ है वह उस समय की हिन्दू जाति का क्षोभ है । कवि ने युगानुभूति को वाणी दे दी है । भगवंतराय ने अपने उद्योगों से अकबर के समय से सोई हुई मध्य देश की धरती में जागरण का प्रकाश बिखेर कर इस धरती की चेतना-शक्ति को जगाने में अपने को समर्पित करने का गौरव प्राप्त किया है ।

सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

मंडल में मध्यदेश की सर्वकालिक मान्यता : सम्पूर्ण मंडल की स्थिति मध्यदेश के अन्तर्गत है । मध्यदेश की मान्यता समय समय पर विस्तृत होती रही । पश्चिम में ब्रह्मावर्त(सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच) तथा पूर्व में अन्तर्वेद(गंगा यमुना के बीच) के मिल जाने से मध्यदेश का बनना प्रारम्भ हो गया । क्रमश:

१- " राउ बुंदेल हरौल दिल्ली को भयो है कहायौं भई मतिया के "

शंभुनाथ मिश्र

तथा

'साह के बावन हजारी घरे सिर पर सरम भारी '

विरुदावली०

२- तुलना कीजिए मु०भा० पृष्ठ ६५१

हिमालय तथा विन्ध्य के बीच पश्चिम में विनशन(सरस्वती के अन्तर्धान होने का स्थान) से लेकर प्रयाग तक के भू-भाग मध्य देश के भीतर आ गए ।*[१] जब भारतवर्ष की राज्य-शक्ति का केंद्र पूर्व में पाटलिपुत्र हो गया तब मध्य देश की सीमा का प्रस्तार पूर्व में बढ़ा ।* महावग्ग के अनुसार मज्झिमदेश (मध्यदेश) की पूर्वी सीमा महासाल के आगे कजंगल(राजमहल बिहार की पूर्वी सीमा) पूर्वोत्तर सीमा सलावती नदी, दक्षिणी सीमा सेत कीष्णक, पश्चिमी सीमा थून(स्थूण, स्थाणेश्वर) तथा उत्तरी सीमा उसीर ध्वज पर्वत थी ।[२] मौर्य साम्राज्य के उपरान्त उत्तर भारत की राज्य-शक्तियां मालवा और पांचाल(कन्नौज) में केन्द्रित हुई; फलस्वरूप मध्यदेश की सीमा दक्षिण पश्चिम दिशा की ओर सौराष्ट्र,अमेर,गुजरात तक मानी जाने लगी ।[३] मध्यदेश की सांस्कृतिक परम्परा के प्रति इस देश के निवासियों के हृदयों में इतनी श्रद्धा रही है कि इस भूमि की पुण्य कीर्ति के साथ अपनी भूमि को मिलाने में शक्तिशाली और प्रभुत्व प्राप्त करने वाली शक्तियों ने सदा अपने को गौरवान्वित अनुभव किया ।

इस तरह मध्यदेश की सीमा उत्तर भारत के इतिहास के साथ ही परिवर्तनशील रही है । ब्रह्मर्षि देश की स्थिति इस मध्यदेश के भी केंद्र में है[४] जिसकी उपमा शरीर में स्थित हृदय से दी जा सकती है । ब्रह्मर्षि देश के शरीर में संस्कृति रूपी रक्त को प्रवाहित करता रहा ।[५] हमारे मंडल की केंद्र भूमि मध्यदेश की आदि कल्पना के साथ संबद्ध

१- वृहत इति० भाग-१, पृष्ठ ४

२- वृहत इति० भाग-१, पृष्ठ ४

३- गुजरात० पृष्ठ ८

४- * गंगा यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मर्षि देश था जहां वैदिक सभ्यता और संस्कृति परिपक्व होकर अन्यत्र प्रसारित हुई । वृहत इति०, भाग-१, पृष्ठ १३

५- * आश्रम संस्कृति के गढ़रूप में सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे । इन आश्रमों का गंगा की घाटी, विशेषकर ब्रह्मावर्त और नैमिषारण्य में फैले आश्रमों से अत्यन्त घनिष्ट सम्पर्क रहता था जहां ऋषि धर्म के नाम पर जीवन की नई विधियों और नये विचारों का साक्षात्कार करते थे ।

गुजरात०पृष्ठ-८

है । उसकी भूमि का एक बड़ा अंश ब्रह्मावर्त के भीतर है । अत: देश के सांस्कृतिक आंदोलनों में इस मंडल का महत्व पूर्वकाल से ही प्रमाणित है ।

भगवंतराय के समय में मध्यदेश की मान्यता के प्रति जागरूकता

परवर्ती कालमें मुस्लिम शासन के स्थापित हो जाने के कारण जब प्राचीन मान्यतायें संकटग्रस्त थीं, उस समय मध्यदेश की कल्पना अस्पष्ट और धूमिल हो गई । मध्यदेश की पुण्यभूमि ही इस युग में आक्रान्ताओं के पंजे में सबसे कसकर जकड़ी हुई थी, परन्तु फिर भी प्राचीन साहित्य की सुरक्षा के कारण यह नहीं संभव हो सका कि जनता उसे सर्वथा भुला बैठती । हां, असमय के दिनों में वह क्षीण होता गया ।[१] उसका फैलाव टूट कर अलग हो गया । संभवत: आगरा मथुरा से लेकर प्रयाग तक के अंतर्वेद प्रदेश के लिए मध्यदेश नाम का व्यवहार होता था । गंगा यमुना के बीच की भूमि विशेष पवित्र मानी जाती रही है एवं मध्यदेश नाम पड़ने की संभावना मध्य(बीच) में स्थित होने के कारण है ।[२] अंतर्वेद और मध्यदेश को देव पर्याय के रूप में ही मान्यता देते थे । जाति विलास में देशों के नाम को उन्होंने ' मद्धिदेश लिख कर उसका निम्नांकित उदाहरण प्रस्तुत किया है जो अंतर्वेद से सम्बन्धित हैं । डा० नगेन्द्र ने अपने देव और उनकी कविता ग्रन्थ में मद्धि को मध्यप्रदेश मान लिया है जो ठीक नहीं जान पड़ता है । नायिका का देश भेद के अनुसार चित्रण करने में भी देव की वाणी इस संस्कार का अनायास उद्घाटन कर देती है :

कोकिल काम कला सकलानि, कलानिधि सी गुनरूप निधानै
गीत संगीत विनीत सदा, सुभ कर्म पुनीत सबै सुख मानै
देव अधार विचार रची सुचि सांची सची रचिकै पहिचानै
अंतरवेद विचच्छन नारि निरंतर अंतर की गति जानै

रस विलास तथा जाति विलास

१- ' भारत का मध्य-कन्नौज - के इर्द गिर्द का देश है जिसे कि वे मध्यदेश अर्थात राज्य का मध्य भाग कहते हैं । '.... परन्तु यह राजनैतिक केंद्र भी है क्योंकि पूर्व समयों में उनके बहुत प्रसिद्ध शूरवीर और राजागण यहां ही निवास करते थे । ' अलबेरूनी० भाग०-२ पृष्ठ-१२३

२- ' बहुत प्राचीन काल में आर्यावर्त और इलावर्त(मध्य हिमालय) के बीच में मध्यदेश पड़ता था । नाम पड़ने का संभवत: यही कारण है । '

वृहत इति० भाग-१, पृष्ठ ४

जैसिंह विनोद की निम्न पंक्ति से प्रमाणित होता है कि देव ने अन्तर्वेद और मध्य देश को पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है।

` दिल्ली सुलतान मध्य भूमि भूप भानु मारु
मालौ सुलतान चहुआन खान खीची है `

` मध्यभूमि ` मध्य देश ही है। मध्य देश नाम की स्मृति के संस्कार एक व्यापक धरातल पर थे। तत्कालीन काव्य में इस शब्द के प्रयोग कई कवियों की वाणियों में संग्रथित हैं।

धनहरि केश नरेश भो मध्यदेस अवतार।

विरुदावली०

तथा

फैल्यो मध्यदेस में समूह तुरुकाने को

भूधर

इन उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि मध्यदेश का सम्बन्ध हमारे मंडल के साथ ` प्रारम्भकाल से और निरन्तर रहा है। मध्यदेश की भावना का विकास जिसके केंद्र से हुआ था वहां की जनता के संस्कारों से इस नाम के एवं नाम के साथ बंधे भाव का तिरोधान कभी भी संभव नहीं हो सका। इन गहरे संस्कारों के पड़ने के लिए आधार भी बहुत गहरे हैं। भगवंतराय के मंडल के कवियों में इस मध्यदेशीयता के श्रेष्ठभाव का विशेष आग्रह दिखता है। इससे उनके समय में मध्यदेश के प्राचीन संस्कारों की जागरूकता का आभास मिलता है।

हमारे मंडल की बाहरी सीमा-रेखा पर काशी, अयोध्या और मथुरा जैसे पुण्य नगर हैं, जहां भगवान शिव, राम और कृष्ण का शाश्वत साहचर्य देश के हृदय में भावना-बद्ध है, यहीं ब्रह्मावर्त, नैमिषारण्य तथा व्रज भूमि के बन हैं, जहां तपस्वियों तथा भगवत-रस रसिकों की भीड़ रहती थी। मंडल के अन्तर्गत प्रयाग, झूसी, श्रृंगवेरपुर कालिंजर और चित्रकूट जैसे तीर्थ हैं, जिनकी भूमि में विचरण करने से कलुष धुल जाता है।[१]

१- तुलना कीजिये म० वनपर्व - अध्याय ८३ तथा ८५

मध्यदेश महाकवियों और महापुरुषों की लीला स्थल रही है

आर्य संस्कृति के अधिष्ठाता भगवान व्यास और आदिकवि वाल्मीकि की वाणी यहीं से प्रवाहित होकर सम्पूर्ण देश के सांस्कृतिक जीवन के लिए पानी और पवन की भांति अनिवार्य हो गई है। बौद्ध काल के महाकवि अश्वघोष भी यहीं के थे। जन्म जीविका अथवा अन्यअनेक कारणों से इस मंडल के साथ इस देश के कवि मनीषियों का सम्बंध रहा है, इसलिए यहां की वाणी सम्पूर्ण देश के पंडितों के लिए आदर्श रूप में बखानी गई है।[१] यहां की स्त्रियों की वेशभूषा सम्पूर्ण नारी जात के लिए अनुकरणीय बताई गई है।[२] श्रीहर्ष जैसे महाकवि को इस प्रदेश के गुण ग्राही राजा से ताम्बूल और आसन प्राप्त करने में जो सुखानुभूति हुई थी, अवश्य ही उसकी पृष्ठभूमि में इस प्रदेश की गौरव-शाली साहित्यिक परम्परा की मान्यता रही होगी।[३] भवभूति, वाक्पति राज तथा राजशेखर जैसे महाकवियों का आदर देने वाले सिंहासन द्वारा

१- मार्गानुगेन निनदेन निर्झरीणानां
सम्पूर्ण वर्णरचनो यतिभिर्विभक्त:
पांचालमंडल भुवां सुभग: कवीनां
श्रोत्रे मधु: क्षरति किंचन काव्य पाठ:

का०मी० अध्याय १०

२- यां मार्ग: परिधान कर्मणि गिरां या सूक्ति मुद्रा क्रमे
भङ्ग्यां कवरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषुच -
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकैरिहान्यच्च
यच्छ्रुत्वान्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्य: स्त्रिय:

बा० रा० १०।६०

३- ताम्बूल द्वय मासनं च लभते य: कान्यकुब्जेश्वरात्

नैषध० सर्ग २२

मिले सम्मान से क्या साधारण आत्मतुष्टि हुई होगी । इस धरती ने अपनी इसी परम्परा को निबाहते हुए मध्ययुग(मुस्लिम काल) में रामानन्द, बल्लभाचार्य, कबीर, सूर, तुलसी और भूषण जैसे महापुरुषों एवं महाकवियों को उत्पन्न किया जिनकी वाणी का संबल पाकर पराजय की जड़ता में डूब कर नष्ट होने से हमारी जाति अपनी रक्षा कर सकी है । इन महाकवियों की वाणी में हमारी आस्था को आधार मिला । इस धरती की पुनीतता का संस्कार हमारे अन्तरंग में बहुत गहरे उतरा हुआ है ।[1] तुलसी चित्रकूट चलने के लिए[2] व्याकुल रहते हैं । रसखान जैसे भावुक कवि तो करोड़ों सुवर्ण-महलों को करील के कुंजों पर न्यौछावर कर देना चाहते हैं ।[3]

कवियों की यह अनुभूति वैयक्तिक अथवा एक देशीय नहीं वरन् जाति की सामूहिक एवं सर्वकालिक भावना से अनुस्यूत है । प्राचीन काल में लोक-भावना ने अपने इसी भाव की अभिव्यक्ति धार्मिकता की ओट लेकर तीर्थों की स्थापना करने में प्रकट की थी । तीर्थों की जैसी संकुलता यहां है वैसी अन्य किसी क्षेत्र में नहीं । इनकी मान्यता के मूल में जो भावनाएं कारण बनी होंगी वे कवियों की अनुभूति में वाणी-बद्ध होकर प्रकट हो गई हैं । आज भी शत शत तीर्थ-यात्री उसी श्रद्धा-भाव से विभोर मिलते हैं, जैसी कवियों की उद्भावना है । इस सांस्कृतिक परम्परा और उसकी अप्रतिहत चेतना से प्रभावित हुए बिना कोई भी संवेदनशील जाति कैसे रह सकती है ? मुस्लिम काल में जातीय संस्कृति की घोर संकटकालीन अवस्था में इस मंडल के संतों एवं भक्तों ने हिन्दू जाति को विचारों एवं भावों के जो कवच धारण कराये उनके कारण हमारा समाज मुसलमानों की तलवार के सामने दृढ़तापूर्वक टिका रहा । इस काल के इतिहास में भी

१- अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे
पुण्यश्च रमणीयश्च वस त्विह भवान्सुखम्

बाल्मीकि० अयोध्या काण्ड ५४।२२

२- अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु - विनय०

३- कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं

रसखान

हमारे मंडल का बहुत बड़ा ऋण है, आध्यात्मिक चेतना को प्रसारित करने के साथ ही साथ यहां से तलवार पर पानी चढ़ाने की प्रेरणा भी देश के उत्थान के लिए मिली है। शिवाजी की 'भवानी' के साथ भूषण की वाणी भी ध्यान में चढ़ जाती है। आभ्यंतरिक साधनाओं के साथ ही साथ जीवन की कठोर यथार्थवादी परिस्थितियों से आंख मिलाकर खड़े होने और उनके लिए प्राणपण से जूझने के लिए प्रेरणा देने में इस मंडल की कवि-वाणी ने समानरूप से स्फूर्ति प्रदान की है। भगवंतराय के मंडल के कवियों की वाणी इसी मध्यदेशीय परम्परा में स्थान ग्रहण करती हैं। उनके काव्य में एक ओर अपने नायक को प्रेरणा देने वाले संकेत हैं तो, दूसरी ओर उसके कार्यों की अभ्यर्थना की गई है।

लै कविराजन की मति शंभु
सरस्वति फैलि रही सुख दैनी
भूप लहे भगवंत से कंत
भई सब अंतरवेद त्रिवेनी

शंभु

तथा

तेरो तीर मानो मथुरा में यमुना को तीर
मारिबे को बैरिन कृपान मानो कासी है

नेवाज

इन उदाहरणों में संस्कृति के प्रतीक दो तीर्थों को उपमान बनाकर, उनमें से एक में अपने चरित नायक भगवंतराय के शांत गुण की साधर्म्य मूलक उपमा को नियोजित किया है और दूसरी में वीररस के मांगलिक उत्कर्ष के लिए उपमेय के वीरत्व को तीर्थों के साथ संश्लिष्टकर दिया गया है। यहां दृष्टव्य यह है कि जीवन-व्यापारों के साथ इन सांस्कृतिक अधिष्ठानों का संबंध कितना व्यापक और कितनी गहरी मान्यतायें स्थापित कर चुका था।

सामाजिक स्थिति

गांव और नगर में दूरी : मुगलकालीन समाज के लोग नगर और ग्रामों की दृष्टि से दो भागों में विभक्त थे। दोनों के बीच में बड़ी चौड़ी खाई भी थी। सम्राट और उससे संबंधित उच्च कर्मचारी प्रथम वर्ग में थे और खेती करने वाली ग्रामीण प्रजा दूसरे वर्ग में। 'नागर' ग्रामीणों को हर दृष्टि से हेय समझते थे। जैपुर नरेश के दरबारी वातावरण के कारण ही बिहारी ने यह दोहा लिखा था -

नागरि विविध विलास तजि, बसी गंवेलिन मांहि
मूढ़नि में गनिबी कितौ, हूढ्यो दै अठिलाहिं

हिन्दू केंद्रों में यह वातावरण मुस्लिम दरबारों के सम्पर्क के कारण फैल रहा था। मुसलमानों के बीच तो यह स्थिति कहीं और विषम थी। गरीब से गरीब मुसलमान नगर छोड़ कर गांव में जाने के विचार से कांप उठता था। उसे ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसे किसी अपराध के कारण निर्वासन का दण्ड दिया जा रहा है।[१] मुगल सूबेदारों और फौजदारों को स्पष्ट आदेश दिए जाते थे कि वे ग्रामीणों के साथ अपने को न मिलाएं और न इसका आभास ही दें कि उनके बीच की खाई संकरी अथवा पाटी जाने योग्य है।[२] "नगरों में रहने वाली जातियों में अधिकांश ही मुसलमान ही थे। जिनमें प्रमुखता विदेशों से भारत में आने वाले लोगों की थी। हिन्दुओं की भी कुछ जातियाँ उनके साथ ही रहती थीं जो राज्य में नौकरी को ही अधिक महत्व देती थीं। इनकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत उन लोगों से बहुत सुधरी हुई थी जो गांव में रहकर केवल कृषि पर निर्भर रहते थे। क्योंकि इनके हाथों में नौकरी का निश्चित वेतन प्रत्येक मास आ जाता था। तथा व्यापार इत्यादि की भी सुविधा थी।"[३]

१- सो० हि० इ० इं० पृ० २६

२- मु० एड० पृ० १४

३- सो० हि० इ० इं० २७

गांवों में रहने वाले प्रमुख रूप से हिन्दू थे अथवा देश के ही लोग जिन्होंने किसी कारणवश मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था । ये लोग प्रजा वर्ग में आते थे, जिनकी आय से नगरों की शान शौकत को पूरा किया जाता था । ऊपर बताए गए दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की दृष्टि में ग्रामीणों का सम्मान न था । यहां की स्थिति का चित्रण मूरेलैंड के शब्दों में इस प्रकार है -' जुलाहे स्वयं नंगे रहकर दूसरों का तन ढंकने के लिए कपड़े बुनते थे । किसान स्वयं भूखे रहकर कस्बे और नगर निवासियों का पेट भरने के लिए कठिन परिश्रम करते थे । ..... साधारण जनता एक फसल से दूसरी फसल तक आधा पेट खाकर रहती थी और दूसरी फसल की आशा लगाए रहती थी ।'[१]

औरंगजेब के शासन काल के अंतिम तीस वर्षों में देश के किसानों(गावों) की स्थिति(आर्थिक) को समझने के लिए उसे दो भागों में बांट कर देखना होगा । एक दक्षिण भारत तथा दूसरा उत्तर भारत । दक्षिण की स्थिति तो अत्यन्त खेद जनक एवं करुण हो गई थी ।[२] उत्तर की भी स्थिति लगभग उसी के समकक्ष ही रही होगी । ' राजस्थान में अविराम युद्ध के कारण मरु की दशा वीरान हो गई थी ।'[३] उसी प्रकार जहां कहीं संघर्ष थे वहां ऐसी ही अवस्था रही होगी । हमारा मंडल भी सतत विद्रोहियों का प्रदेश रहा है । छत्रशाल बुंदेला ने इसी समय में बुंदेलखंड में अपने पैर जमाए थे और मंडल के दूसरे खंड(अवध) में भी बैस राजपूत भयंकरतम हो गए थे ।[४] इसलिए कह सकते हैं यहां भी ग्रामों का जीवन निराशा और निर्धनता में सर्वथा डूब चुका था । भगवंत

१- अक० औरं० पृ० ३०४-५

२- औरंग० पृष्ठ ४७७

३- औरंग० पृष्ठ ५०३

४-' औरंगजेब के नाम लिखे गये बैसवारा के तत्कालीन फौजदार रज़न्दाज खां के पत्रों से इसकी पुष्टि होती है ।

फ० नवा० पृ० ३० में उद्धृत

राय के जन्म के समय निर्धन पिता के सामने पुत्र जन्म के अवसर पर भी प्रसन्नता के स्थान में विषाद का प्रकट होना इसका प्रमाण है।[१] इसी घटना से जन-जीवन की मानसिक पीड़ा का अनुमान किया जा सकता है।

समाज की आर्थिक रीढ़ टूट चुकी थी। परिणाम स्वरूप उसके भीतर उच्छृंखल तत्वों का प्रवेश होना अवश्यंभावी था। अधिकांश समाज में एक अव्यवस्था फैली होगी। उद्दंड प्रकृति के लोगों ने पड़ोसियों पर ही अपने हाथ साफ किए होंगे।[२] तथा उनके आचरण भी दोषपूर्ण हो गये होंगे। चारित्रिक हानि की यह स्थिति जातीय जीवन के लिए पराजय से भी अधिक विषमय एवं भयंकर थी। यदि इसका निर्बिघ्न विकास होता तो सम्भव है, हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही विनाश के हाथों पड़ जाता। किन्तु ऐसा नहीं हो सका। देश में उच्च कोटि के चरित्रवान् जन-नायकों के नेतृत्व से पहले प्रकार की प्रवृत्ति राष्ट्र अथवा जाति-हित के लिए साम्राज्य से संघर्ष करने के लिए इसी काल में खड़ी की गई तथा दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति जो आंतरिक एवं व्यक्तिगत जीवन से अधिक सम्बंधित थी साहित्य में अभिव्यक्त हुई, जिससे हृदय का भार हलका हुआ। हलका ही नहीं हुआ अपितु व्यक्त होने पर उसकी आदरपूर्ण व्याख्या की गई, जिससे प्रभावित होकर रचनाकार एवं सामाजिक दोनों अभिव्यक्त वस्तु के उदात्त पहलुओं को भी अनिवार्य रूप से देखने लगे। किसी पतनशील भाव वाले व्यक्ति को उसी की नजरों में ऊंचा बनाये रखना सचमुच बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। जिसे व्यक्त करना अनिवार्य था उसे युग ने स्वर दिया और प्रकट हो जाने पर सतर्क मनीषा ने उसको गौरव का जामा पहना कर सभ्य बनाया। इस प्रकार हमें अपने भीतर कोई कमजोरी नहीं अनुभव होने दी गई। तभी हम उस संकटपूर्ण स्थिति से अपने को सुरक्षित रखते हुए बाहर निकाल सके। यह संक्रान्ति कालीन अन्तर्दृष्टि हमारे इतिहास के संकट को बड़ी सफाई से निवारित कर

१- ' पुत्र जन्म का संवाद सुनकर भी अड़ासू सिंह ने अपना खेत जोतने का काम न बन्द किया ' इससे उनके हृदय की निराशा प्रकट होती है। फतेहपुर० पृ० १०२

२- स्वयं भगवंतराय के पिता की पारिवारिक सम्पत्ति छीन ली गई थी।
फतेहपुर० पृ० १०३

सकी है । हम उस युग के पौरुष और उसकी मनीषा पर गर्व कर सकते हैं ।

भगवंतराय ग्राम संस्कृति के नायक थे

भगवंतराय एक छोटे से गांव में उत्पन्न हुए थे । उनका उद्देश्य इसी ग्राम-संस्कृति को प्रतिष्ठित पद पर पहुंचाना था । मुगल उनके इस प्रयास को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते थे, इसीलिए अपने खेमों में उनके लिए वे गांवों का प्रतिनिधि 'गंवार' या ग्रामीण के तिरस्कारपूर्ण सम्बोधन का व्यवहार करते थे । भगवंतराय ने समाज की संक्रान्ति काल की इस घड़ी में वाह्य एवं आन्तरिक दोनों शक्तियों का नेतृत्व किया । सैन्य-शक्ति का गठन राष्ट्रहित के लिए युद्ध भूमि में किया गया एवं आंतरिक शक्ति का साहित्य जगत में । वे एक उच्च कोटि के चरित्रवान् जन-नायक और प्रतिभा सम्पन्न उत्कृष्ट कवि भी प्रमाणित होते हैं ।

गांवों का जीवन-स्रोत सूखा नहीं था

यहीं समाज की शिक्षा और नैतिकता का सर्वेक्षण कर लेना भी उचित होगा । इतिहासकारों को मुगलकाल में शिक्षा की व्यवस्था समझने के लिए जो आधार मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि राज्य इस दिशा में अत्यन्त उदासीन था । फलस्वरूप शिक्षा की दृष्टि से समाज घोर अंधकार में था । फिर भी शिक्षा के कुछ प्राचीन केंद्रों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था । काशी, अयोध्या, मथुरा और प्रयाग आदि क्षेत्र हमारे मंडल को घेरे हुए हैं । अतएव यहां अपेक्षाकृत शिक्षा और साक्षरता सविशेष रही होगी । फिर भी इस क्षेत्र की शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशिष्ट उन्नति का प्रमाण नहीं दिया जा सकता । न तो हमने व्यावहारिक ज्ञान में कोई उन्नति की न आध्यात्मिक ज्ञान में । हमने जो कुछ किया वह बस इतना ही था कि इतनी विषम परिस्थिति में भी हमने अपने पूर्वजों के ज्ञान की रक्षा की और निरक्षर रहते हुए भी उससे सम्पर्क स्थापित किए रहे एवं विद्या तथा विद्वानों को महत्व देते रहे । पढ़े लिखे पंडितों को

निमंत्रित करके उनसे पुराण इत्यादि ग्रन्थों को सुनना एक धार्मिक कर्त्तव्य हो गया था । इस प्रकार समाज के हर स्थिति के व्यक्ति का ज्ञान बढ़ता था एवं उसके हृदय में आत्म-गौरव का भाव दृढ़ होता था । काव्य का आस्वादन भी व्यास पीठों की ही भांति के मंचों के माध्यम से होता था । इस युग में की गई अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियां मिलती हैं, जिनके कारण प्राचीन साहित्य की सुरक्षा हुई है, यह प्रमाणित होता है । यह समाज की शिक्षा-रुचि के ही कारण संभव हुआ । रीतिकाल के काव्य-ग्रन्थों में शिक्षा के साथ अनेक अन्य विद्याओं सम्बंधी ग्रन्थ भी लिखे गए । काव्य शिक्षा के तो विद्यालय चलते थे । असोथर काव्य शिक्षा का भगवंतराय के कारण केंद्र स्थान हो गया होगा । संगीत-शिक्षा के लिए भी यहां संगीतज्ञों के समागम होते थे ।[१]

जहां तक इस समय की नैतिकता का प्रश्न है, हम केवल शृंगारी काव्य को ले कर इस समाज पर आरोप नहीं लगा सकते । अनैतिकता के लिए आधार भी कहां हैं... काव्यों में परकीया और सामान्या नायिकाओं के संबंधों की कहां नहीं भर्त्सना की गई ? वैसे अनैतिक तत्व भी रहे होंगे अवश्य; किन्तु किस समाज और किस युग में अनैतिक तत्व नहीं रहे ? देश में अभी तक जातियों के भीतरी संगठन अपने भीतर के व्यक्तियों के आचरणों पर पूरा नियंत्रण रखते थे, जो काफी समर्थ तथा प्रभावशाली होते थे । यहां यदुनाथ सरकार के शब्दों को उद्धृत करने से इस कथन का प्रमाण भी दिया जा सकता है - ' अनिवार्यरूप से यह स्वीकार करना पड़ता है कि तब भी करोड़ों भारतीयों का गृहस्थ जीवन पवित्रतामय और सीधा सादा चंचलता तथा हंसी खुशी से भरपूर था । इसी सदाचार ने भारतीय जनसमाज को पिछले साम्राज्य के पतित रोमन लोगों से पूर्ण सर्वनाश के दुर्भाग्यपूर्ण अंत से बचा लिया ।'[२]

१- बड़ौदा के ध्रुपद-गायक श्री भरत व्यास ने बताया है कि एक पर्यटक भगवंतराय के समय में असोथर आया था । उसने एक पुस्तक में अपने संस्मरण लिखे हैं । उक्त पुस्तक में असोथर के संगीत-दरबार का भी विवरण है । व्यास जी ने उक्त पुस्तक की हस्तलिखित प्रति पिलानी के भगवानदास कम्पाउंडर के यहां देखी थी ।

२- औरंग० पृष्ठ ५६३

इस काल में नीति सम्बंधी अनेक रचनाओं का रुचिपूर्ण पठन-पाठन एवं सृजन यह प्रमाण प्रस्तुत करता है कि तत्कालीन समाज का शिक्षा देने वाली तथा शिक्षा ग्रहण करने वाली बुद्धियां समाज-हित के प्रश्नों के मनन और विवेचन के उपरान्त उनके लिए समाधान प्रस्तुत करने में सचेत एवं जागरूक थीं ।

धार्मिक परिस्थिति

हिन्दू मुसलमानों में स्वाभाविक तनातनी : सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों की चर्चा करनी व्यर्थ समझकर हम यही कहेंगे कि तत्कालीन समाज के अंगरूप हिन्दू और इस्लाम दो प्रमुख धर्म थे । हिन्दू देश की जनता का धर्म था जो इसी देश में उद्भूत हुआ था, परन्तु वह अब पराधीन था । इस्लाम विजयी एवं शासकों का धर्म था जो अपने को पूर्णतया विदेशी समझने में अधिक गौरव का अनुभव करता था । विजेता अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे । यही उनका अभीष्ट था किन्तु पराजितों की आत्मा अभी नहीं मरी थी । शताब्दियों के शासन को स्वीकार करके भी हिन्दू लोग मुसलमानों को सदा अस्पृश्य और म्लेच्छ समझते रहे उनके हाथ का पानी तक पी लेने पर धर्म-बहिष्कार हो जाता था । दूसरी ओर मुसलमान उन्हें काफिर घोषित करते रहे । इस खींचा तानी के कारण दोनों ही जातियों के बीच में बहुत बड़ी दूरी आ गई थी ।[1] दोनों ही धर्मों के अनुयायी एक दूसरे की स्थिति से आतंकित और भयभीत बने रहते थे । औरंगजेब और उसके अनुयायियों की नीति सदैव इस खींचा तानी को बराबर बढ़ावा देती रही । इसी लिए हिन्दू जाति सदैव एक बाहरी संकट के भय के कारण कभी आपसी भेद-भाव और आन्तरिक असंगतियों की ओर उन्मुख नहीं हुई । यहां उन्मुखता से दो अभिप्राय हैं (१) ऐसी परिस्थिति में आपस में ही संघर्ष होता अथवा (२) उनको मिटाने के लिए विशेष ऊर्जा के साथ सौहार्द्रपूर्ण कोई नवीन आन्दोलन चलता । इनमें से किसी का भी विशेष रूप से स्थापन नहीं हुआ । यदि था

१- औरंग० पृष्ठ ६०८-६

भी तो जनता से उसका कोई सम्बंध नहीं रहा । सवर्ण और अवर्ण सभी के सामने मुसलमान समान रूप से प्रतिपक्षी थे । इस संकट के निदान में हिन्दुओं के भीतर के 'अहि, मयूर, मृग, बाघ' आपसी वैमनस्य को भूलकर एक साथ खड़े थे ।

हिन्दुओं में प्रतिक्रिया के चिन्ह : संकट के समय आत्मरक्षा के लिए हिन्दू अपने बीच कठोर से कठोर नियमों को बनाते गए । वे कहीं भी अपने बीच शिथिलता अथवा लचरपन नहीं आने देना चाहते थे । समाज के ये दोष ही सही किन्तु इसमें उसकी इतनी अधिक निष्ठा थी कि न तो पंडितराज जगन्नाथ[1] का शास्त्र-ज्ञान उसे समझा सकता था और न बाजीराव[2] द्वितीय की शक्ति ही उसकी अवहेलना कर सकती थी । फिर भी उस समाज ने अपने भीतर परिवर्तन कर सकने की क्षमता के भी प्रचुर लक्षण उसी युग के इतिहास में प्रकट किये हैं । अजित सिंह ने अपनी पुत्री (फर्रुखसियार की बेवा) को पुनः हिन्दू बेवा की भांति अपने घर में रख लिया था ।[3] यह उस युग के लिए एक नई घटना थी । मुस्लिम जगत में इससे सनसनी फैल गई थी ।[4] भगवंतराय ने तो इससे कहीं बढ़कर यह किया कि मुस्लिम महिलाएं हिन्दुओं की परिणीता हुईं ।[5]

वीरभाव की हनुमत उपासना का प्रचार : धार्मिक आस्था के क्षेत्र में स्थिति बड़ी ही रोचक थी । जहां हम एक व्यापक और पतनशील प्रभाव के कारण राधा और कृष्ण को केवल रसिकराय बना चुके थे वहां सीता और राम को भी हम वही स्वरूप देने लगे थे । भक्ति में 'रसिक सम्प्रदाय' इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं । परन्तु वहीं हमारी आस्था हनुमान जैसे वीर शिरोमणि के प्रति एक

१- तुलना कीजिये भा० विलास - पृष्ठ ११-१२

२- कुछ इतिहासकारों का मत है कि मस्तानी से विवाह की छूट न होने से बाजीराव को मानसिक आघात लगा था ।

३- ले०मु० भाग-१, पृष्ठ ४२६

४- ले०मु० भाग-१, पृष्ठ ४२६

५- सा० जा० इ०पृष्ठ ३४६

बहुत बड़े व्यापक धरातल पर उद्भूत हुई । राम और कृष्ण के मंदिर हर गांव में नहीं मिलेंगे किन्तु हनुमान की शिलामूर्ति एक पीपल के वृक्ष के सहारे लगभग हर गांव में देखने को मिलेगी । इस मूर्ति के लिए मंदिर की आवश्यकता नहीं थी । धूप वर्षा और जाड़े से रक्षा करने के लिए वृक्ष की छाया ही पर्याप्त थी, जो सर्वत्र सुलभ थी । इस प्रकार केवल यह कहना कि ये पूजनीय मूर्तियां भोजन करती हैं। सोती हैं, जगन्नाथ जैसी मूर्तियां प्रतिवर्ष एक सप्ताह तक ज्वर पीड़ित भी रहती हैं, और ऐसे कामुकतामय नृत्य देखती हैं जिन्हें देख कर अवध के नवाबों को भी ईर्ष्या होती और अपने हरम में जिनका अनुकरण करवाने को कुतुब शाह भी लालायित हो उठता और हिन्दू आस्था को केवल पतनशील समझना असंगत है । वास्तव में निर्धन ग्रामीणों के बीच इस काल में हनुमान की उपासना का जितना प्रचार हुआ उतना और अन्य किसी देवता का नहीं । इससे उस समाज की वीर-पूजा की भावना का पता लगता है ।

भगवंतराय की आस्था विशेष कर राम के लोक-रंजक चरित्रों एवं उनके सर्व प्रिय सेनानी हनुमान जी पर थी ।[1] तत्कालीन समाज को मुस्लिम विरोध के सामने खड़े होकर जूझने की प्रेरणा हनुमान से ही मिल सकती थी । जनता की आस्था में इन्हीं का समावेश भी हो गया था ।

साहित्य और साहित्यकार की परिस्थितियां

द्विवेदी युग से लेकर प्रयोगवाद तक के सभी प्रतिनिधि आलोचकों और कवियों ने रीतिकाव्य और रीतिकाल पर अपने अपने दृष्टिकोणों से आक्षेप किए हैं ।[2] किन्तु अब इस धारणा के विपरीत ज्यों ज्यों रीतिकाल का अध्ययन गहराई से होता जा रहा है त्यों-त्यों वह पुन: संस्थापित और समादृत हो रहा है ।[3] वास्तव में रीति काव्य

१- भगवंतराय की प्राप्त रचनाएं ही इसका प्रमाण हैं ।

२- तुलना कीजिये वृहत् इति० भाग-६, पृष्ठ ५४६

३- तुलना कीजिये वृहत् इति० भाग-६, पृष्ठ ५४६

की परिस्थितियों को समझने की भूल के कारण उसके सम्बंध में किए गए निर्णय भी भ्रान्तिपूर्ण हो गए । केवल दिल्ली दरबार की स्थिति को देश की जनता की स्थिति नहीं माना जा सकता ।[१] उसका अधिकांश प्रभाव मानते हुए भी उस कुहासे और तमिस्रा के भीतर जलने वाली मशालों के प्रकाश को क्योंकर भूला जा सकता है जो जनता के बलिदान के रक्त से जगमगा रही थीं । इस काल के उन समस्त विद्रोही तत्वों को एक साथ मिलाकर देखने पर पता लगता है कि उनका स्वर और अस्तित्व कितना समर्थ था जो मुगल नीति के विरोध में अपने को स्थापित करने के लिए जूझते रहे हैं । रीतिकाल के आरंभ काल में ही जब साहित्य के इतिहास की एक नई धारा प्रवाहित हुई तभी इतिहास की भी एक नई धारा फूट पड़ी थी । दक्षिण महाराष्ट्र से राजस्थान पर्यन्त, बुंदेलखण्ड, भरतपुर और पंजाब तक के प्रदेशों में जो एक व्यापक चेतना थी उसे क्या महत्वहीन अथवा निर्जीव कहा जा सकता है? फिर उसकी उपेक्षा क्यों ?

रीतिकाल की प्रथम शताब्दी दूसरी शताब्दी से उत्कर्षपूर्ण थी : रीतिकाल की आयु दो सौ वर्षों की है । दो सौ वर्षों की आयु इतिहास की दृष्टि से भी काफी बड़ी होती है । इसको ठीक से समझने के लिए हमें इसके विभाग करने पड़ेंगे । यदि साहित्य के इतिहास के भीतर से इस काल की उच्चकोटि की प्रतिभाओं को छांटें तो ज्ञात होगा कि इन दो में प्रथम शताब्दी के भीतर ही लगभग सभी प्रमुख कवि आ जाते हैं । रीति मुक्त और वीर काव्यों के सम्बंध में भी यही घटित होता है । दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुए श्रेष्ठ कवियों में केवल ठाकुर, पद्माकर और द्विजदेव का ही नाम लिया जा सकता है । चिंतामणि, मतिराम और भूषण की प्रतिभा का आधार लेकर खड़ा होने वाला रीतिकाल, दास, सुखदेव और देव के साथ एक शताब्दी की आयु भोग लेता है । रीति-मुक्त धारा के प्रतिनिधि कवि घनानन्द की प्रौढ़ता भी इसी प्रथम शताब्दी की देन है । इन महाकवियों की लेखनियों के योग से इस युग का गौरव अजर हो गया है । रीतिकाल

१- तुलना कीजिये बृहत इति० भाग-६, पृष्ठ ४-५

की दूसरी शताब्दी (१९वीं) को अलग करके रखने पर वह अपेक्षाकृत निर्जीव तथा निष्प्रभ प्रतीत होती है । तत्कालीन इतिहास को भी हम इसी के साथ तुलना में खड़ा कर सकते हैं । उसकी भी स्थिति वैसी ही है जैसी साहित्य की । १८वीं शताब्दी के वीर जननायकों की प्रतिभा से हमारा इतिहास गौरवान्वित है और उन जन-नायकों के पीछे खड़ी होने वाली जनता की शक्ति स्तुत्य है । हम मुगलों का सामना उन्हीं की दुर्बलताओं को अपना कर नहीं कर सकते थे । यदि उन्हीं की भांति विरोधी भी हुए होते तो उन्हें अपने पक्ष के समर्थन के लिए आधार क्या मिला होता ? अत: कह सकते हैं कि विरोधी स्वर के रूप में देश की जनता के भीतर से एक ऐसी धारा फूटी थी जो मुगलों की दुर्बलताओं की परिपूरक थी । यह धारा शासन को ललकारने के लिए निरन्तर प्रदीप्त रही है । निराशा और पतन के भीतर जो शक्ति थी उसे भी सामने रखने का यहां प्रस्ताव है । सौ वर्षों के अविराम संघर्ष के बाद शिथिल होकर दोनों ही शक्तियों के पांव उखड़ गये तब एक तीसरी शक्ति (अंग्रेजों की) उस थकान भरे वातावरण पर शासन करने के लिए छाने लगी । रीतिकाल की पहली शताब्दी की आयु उत्कर्ष और प्रौढ़ता की है, दूसरी शताब्दी शैथिल्य एवं वार्धक्य की । तत्कालीन इतिहास के साथ इसकी पूर्ण संगति है ।

रीतिकाल और विशेषकर उसकी प्रथम शताब्दी की उपलब्धियों की अवमानना नहीं की जा सकती । उस युग के साहित्यकार का दृष्टिकोण जीवन की एकान्तता और काल्पनिकता के स्थान पर ऐहिक हो गया था । इस समय की तीन प्रमुख काव्य धाराओं, (१) रीतिबद्ध (२) रीतिमुक्त तथा (३) वीर काव्यों में इस का पूरा-पूरा सन्निवेश हुआ है । इस युग के काव्य में कवि की यथार्थ वादिता हमारे लिए सबसे बड़ी उपलब्धि बनकर शेष है ।

रीतिकाल का कवि सही मार्ग के लिए छटपटाता रहा

रीतिबद्ध कवियों पर रूढ़ि ग्रस्तता का और कभी कभी अनैतिकता का आरोप किया जाता है । रूढ़ि एक परिपाटी के रूप में थी, इसकी एक व्यापक धरातल पर हुई

मान्यता के लिए सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं । शासक और शासित के बीच का वातावरण इतना तनावपूर्ण था कि हम साहित्य में प्रयोग-शीलता के लिए स्वतंत्र नहीं थे । साहित्य एवं संस्कृति आदि के क्षेत्रों में हमें रिक्थ रूप मे जो प्राप्त था, उसी की रक्षा का प्रश्न हमारे सम्मुख सबसे पहले था । रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण हमने संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों की शरण ग्रहण की और थोड़े हेर फेर के साथ उसी प्राचीनता का पल्ला पकड़े रहे । हमने विदेशी राजभाषा फारसी के प्रभाव से अपने साहित्य की रक्षा कर उसे स्वकीयता के गुणों से अलंकृत रखने का इस युग में सजग प्रयत्न किया है । अन्यथा भूषण की यह पंक्ति हमारे सामने न होती :

` बायें लिख वैयन के बायबिधि होन लागे
दायें लिख वैयन पै दापसी मढ़ै लगी `

रीतिकाल अपने पूर्ववर्ती भक्तियुग से भिन्न था । संत और भक्त कवियों की स्वाभाविक स्वतंत्रता, रीतिकाल के कवि के लिए सम्भव नहीं थी । वह दरबारों का आश्रय प्राप्त करने के लिए इच्छुक ही नहीं प्रयत्नशील भी हुआ । इन दो परम्पराओं के मिलन बिन्दु पर खड़े इस समय के कवि के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व उठते रहे । कवि-स्वभाव की अलमस्ती को दरबारी वातावरण में ठेस लगती थी और वह तिलमिला जाता था । कुंभनदास को एक बार सीकरी जाने पर जैसी गहरी आत्मग्लानि हुई थी, रीति युग के कवि में दरबारी जीवन के बीच यदाकदा इसी प्रकार के भावों के प्रस्फुटन देखने को मिल जाते हैं । रहीम, बिहारी और देव जैसे कवियों के इस मानसिक स्थिति के हृदयोद्गारों से हिन्दी साहित्य जगत् परिचित है । इस दरबारी संस्कृति के सम्पर्क के कारण कवियों के हृदयों में जो संघर्ष हुआ, उसमें अधिकांश ने अपने को अन्ततः अभ्यस्त कर उसे स्वीकार कर लिया जैसे--बिहारी। कुछ ऐसे कवि थे जिनमें इन बंधनों को तोड़ कर अपने अस्तित्व को भक्त युग के कवि के समान ऊंचा उठाने की शक्ति तो न थी पर वे असमंजस के अंधकार में खड़े सदैव एक रास्ता खोजते रहे । वे नायिका भेद जैसे विषय के आख्यान को भी ईश्वरत्व की छाया से दूर नहीं कर सकते थे -

माया देवी नाइका नायक पुरुष आप
सकल दंयतिन में प्रकट देव करन तेहि जाप

कहना न होगा कि इसकी पृष्ठभूमि में भक्त कवियों का सर्वात्मवाद ही प्रेरक रूप से विद्यमान है । इतना ही नहीं इस युग के काव्य में संत कवियों की परा पूजा, उन्मनी अवस्था एवं सहज स्वभाव को भी अभिव्यक्ति मिली है :

जहं जहं जाऊं सोई परिकरमा
जोइ जोइ करउं सो पूजा - देव कबीर

आठौ जाम राम तुम्हैं पूजत रहत हों - देव

देव की रचनाओं में कबीर जैसी उलटवासियां भी देखने को मिल जाती हैं उन्हीं की भांति जातिवाद आदि के विरोध में भी कवि का स्वर फूटा है :

मोम के मंदिर माखन को मुनि, बैठ्यो हुतासन आसन कीन्हें

एवं

बेदन मूंदि करी इन दूंद कि सूद अपावन पावन पांड़े

इन स्वरों के आधार पर हम रीतिकाल के कवि की मानसिक स्थिति और उसके हृदय की छटपटाहट का सही अनुमान कर सकते हैं । कवि अपना कवि-कर्तव्य निभाने के लिए सही दिशा प्राप्त करने के लिए आकुल था । इस युग के कवि ने अपने श्रृंगार को आध्यात्मिक परिवेश में रखा एवं पुरुष-स्त्री सम्बंधों को नीति की मर्यादा में बांधा । नायिका भेद में रस की स्थिति के लिए स्वकीया-प्रेम को ही मान्यता मिली है शेषको रसहीन बताकर एक प्रकार से वर्जित ही किया गया है :

तातें स्वकीया सुद्ध रस, पर कीया रस प्रेम
गुप्तादिक षट भेद तिहिं, तहां न रसकौ नेम ।

जैसिंह विनोद

हम सबको विदित है कि प्रसिद्ध श्रृंगारी कवि बिहारी ने जयपुर नरेश को किस प्रकार विलासिता के जीवन से उबार लिया था । रीतिकाल की इन विशेषताओं को मात्र अपवाद नहीं कहा जा सकता वरन् यह सब उसकी जीवन्तता के प्रमाण स्वरूप हैं ।

साहित्यकार के सामने यथार्थ और ईमानदारी का प्रश्न सबसे पहले है । इस दृष्टि से वह यौवन की प्रबलतम लालसा की उपेक्षा नहीं कर सकता । विद्यापति और सूरदास आदि भक्त कवियों के द्वारा अपने आराध्य और आराध्य के चरित्र-गान से जब इस तत्व को बहिष्कृत कर देना संभव नहीं हो सका, तो लौकिक राजाओं के दरबारोंमें लिखने पढ़ने वाले इन सांसारिक कवियों ने लोकाचार के साथ साथ अपने हृदय के भक्ति-भाव को विस्मृत नहीं होने दिया, यही क्या कम है । इस प्रकार भक्ति-युग और रीति-युग के साहित्य को दृष्टि में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपासना की भूमिका में पहुंचकर हम लोक को नहीं भुला सके और लौकिक जीवन में उपासना को नहीं छोड़ सके । भक्ति-काल और रीतिकाल के कवियों का क्षेत्र बदला हुआ था किन्तु दोनों कीअन्तश्चेतना में अंतर नहीं आया था । रीति काव्य के अधिकांश कर्ता अपने हृदय के राग तत्व और अपने युग के सामाजिक संघर्षों के प्रति जागरूक थे । इस युग का सम्पूर्ण काव्य अपने युग को उद्भासित करने में पूर्ण सक्षम है । इस युग में लिखे गये ' प्रेम काव्य ' के पीछे उनका अपना सहज भौतिक आधार एवं सामाजिक संघर्ष है । आज उसका प्रचलित कलात्मक रूप चाहे जो भी हो पर उसके मूल में पैठी हुई सामाजिक सत्य की महत्ता और मानव हृदय की सहज वृत्तियों की शाश्वतता को स्वीकार करना होगा ।"[१]

रीति मुक्त कवियों की स्वच्छन्द अन्तश्चेतना[२] की सराहना सभी करते हैं । ठाकुर आदि कवियों ने जब रीति बद्धता की भर्त्सना की थी तब सचमुच वह भीतर से खोखला हो गया था और उसके भीतर पूर्व जैसा जीवन नहीं रह गया था । अत्यधिक अनुशासन का बोझ जब कवि को सहन कर सकना कठिन हो जाता था तभी वह अपने अस्तित्व को रीति से स्वतंत्र करके अपने भीतर के निश्छल संगीत को काव्य के प्रांगण में अवतारित करता था । उसी संगठन की कठोर रूढ़ियों से विद्रोह करना यह प्रमाणित करता है कि

१- परम्परा रसराज अंक पृष्ठ १०

कवि अपने व्यक्तित्व और उसके अस्तित्व के प्रति भी अत्यधिक सतर्क थे । रीति-बद्धता में एक सुसंगठित मान्यता के स्वर थे और रीति-मुक्तता में व्यक्ति की आत्म केंद्रित रागिनी । रूढ़ि के अन्धानुकरण के कारण जब उसके भीतर व्यक्तित्व घुटने लगा तभी वहां से मुक्ति पाने के प्रयत्न हुए । इस धारा के कवियों के संबंध में यह कथन कितना सटीक है - 'इसी से स्वच्छन्द कवि हृदय की दौड़ के लिए राज मार्ग चाहते थे, रीति की संकरी गली में धक्कम धक्का करना नहीं । ये कविता की नयी तुली नाली खोदने वाले न थे ।' तथा ये अपनी उमंग के आदेशमर थिरकने वाले और काव्य-विभूति द्वारा काव्य मर्मज्ञों को प्रभावित करने वाले थे ।[१]

रीतिकाल को घोर श्रृंगारिकता और विलास का युग कह कर लांक्षित करने वालों को इस काल में लिखे गए वीर काव्यों को भी देखने की आवश्यकता है । १८वीं शताब्दी में भूषण, लाल, श्रीधर और भगवंतराय के मंडल के कवियों के समय के लगभग ही सुजान चरित के रचनाकार सूदन का काल है । इनके अतिरिक्त भी अनेक कवियों की वीर-रस पूर्ण रचनाएं स्फुट रूप से प्राप्त होती हैं जिनमें तत्कालीन राजनैतिक जागृति की अभ्यर्थना की गई है । इन सब रचनाओं के अतिरिक्त मान और सूर्यमल्ल की रचनाएं भी सामने रखनी पड़ेंगी । यह भी ध्यान देने की बात है कि रासो का प्रचार और विस्तार भी इसी युग में विशेषरूप से क्यों हुआ । रासो की अनेक हस्तलिखित प्रतियां इसी युग की लिखी होने से भी प्रकट होता है कि जनता में ऐसे काव्यों के पठन-पाठन की पर्याप्त रुचि विद्यमान थी । लोक-काव्य आल्हा के प्रचार के साथ अनेक ऐतिहासिक वीर आख्यानों को भी जनता ने, अपना कंठ हार बना लिया था । महाभारत के अनेक हिन्दी पद्यानुवाद भी इस प्रसंग में चर्चा की अपेक्षा रखते हैं । इन रचनाओं की पृष्ठ भूमि में इस युग की वीर-भावना व्यंजित होती है ।

राष्ट्रीय जागृति का कवि ने नेतृत्व किया

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वीर काव्य के प्रति इतनी अधिक अभिरुचि

१- घनानन्द पृष्ठ १३

इस काल के पूर्व शायद नहीं थी । रासो की प्रामाणिकता के संदेहास्पद होने के कारण स्वरूप कह सकते हैं कि तथाकथित वीर गाथा काल में भी नहीं । फिर अपने पूर्ववर्ती वीर-काव्यों की अपेक्षा इनकी प्रत्यक्ष विशेषता यह है कि ये सब ऐतिहासिक आस्था से परिपूर्ण हैं एवं इनमें जीवन की यथार्थ घटनाओं को ग्रहण किया गया है । जागतिक अभिव्यक्ति को सबसे पहले इसी युग के कवि ने महत्व देने का साहस किया और उसे काव्य का विषय बनाया । यह रीति युग के कवि का विश्वास था कि समस्त जनता का उद्धार करने वाली शक्ति मनुष्य के ही भीतर से फूटेगी और कवि ने उसे ढूंढ निकालने के लिए उत्तर में कुमायूं से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक देश का छान डाला था :

मोरंग जाहुं कि जाहुं कुमाहुं कि श्रीनगरै हु कवित्त बनाए
बांधव जाहुं कि जाहुं अमेरकि जोधपुरै कि चितौ रहिं घाए
जाहु कुबुम्ब कि एदिल पै कि दिलीसहुं पै किन जाहु बुलाए
भूषन ह्वै है निहाल मही गढ़पाल सिवाहि कि कीरति गाए । (भूषण)

अंतिम पंक्ति पर ध्यान देने का निवेदन है । कवि अपने काव्य को जातिहित साधन में ही नियोजित करने में सबसे बड़ी सिद्धि मानता है । जाति-हित में कवि हृदय की यह द्रवणशीलता सचमुच ही स्तुत्य है । इस भावना से प्रेरित कवि पलायनवादी न होकर संघर्षवादी बना और उसने दैव का सहारा न ढूंढ कर लोक के ही प्राणी पर दृष्टि-निक्षेप किया ।

कवि का सारा हृदय उसी के आश्रय के लिए उमड़ रहा है जो अपनी शक्ति से जाति का उद्धार करे । लोक-जीवन में कविकी ऐसी प्रवृत्ति कहां देखने को मिलेगी ? बिहारी जैसे कवि के हृदय से भी जातीय पक्ष की भाव-व्यंजना हुई है ।[१] मेवाड़, बूंदी, पूना, पन्ना, भरतपुर और अलवर के आश्रय में रहकर रीति-युग के कवियों ने राष्ट्रीय कर्त्तव्य का जो पालन किया है वह हमारे इतिहास का एक श्लाघनीय तथा अभूतपूर्व प्रसंग है ।

१- ' बाजह पराये पानि परि तू पछीन न मारिं

जहां तक इस युग के कवि के सम्मान और स्वाभिमान का प्रश्न है वह पूर्णत: रक्षित रहा । औरंगजेब अथवा मुगल दरबार से बहिष्कृत हो जाने का अर्थ यह नहीं कि वे अनाथ हो गए एवं उन्हें कहीं स्थान नहीं रहा । कवियों के कारण स्वयं दरबार की शोभा बढ़ती है यह मान्यता उस युग में विद्यमान थी । औरंगजेब के ही पुत्र आजमशाह एवं अन्य मुगल मनसबदार तथा हिन्दू ठिकानों में कवि समादृत थे । सामर्थ्य के अनुसार छोटे छोटे ठिकानेदारों ने साहित्य संवर्द्धन के लिए जो उदारता और सदाशयता दिखाई है वह कम महत्वपूर्ण नहीं । कवि इन दरबारों में बड़े स्वाभिमान के साथ रहता था । जैसिंह की थोड़ी सी उपेक्षा से बिहारी का तिलमिला उठना सिद्ध करता है कि कवि स्वाभिमान के प्रश्न पर कितना सन्देष्ट था ।[1] छत्रशाल ने इसी युग में भूषण की पालकी उठाकर कवि को अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया था ।[2] क्या ये उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं कि इस युग के कवि को अन्यतम सम्मान मिला था । देव को अनेक ठिकानों में भटकाने वाला स्वयं उनका स्वाभिमान और उनका अहं ही था । कवि की इस पर तनिक सी भीठेस सहन नहीं हो सकती थी । उनके जीवन की अनेक घटनाएं इसके प्रमाण में रखी जा सकती हैं । भगवंतराय के ही दरबार के सुखदेव मिश्र अपने आश्रयदाता के व्यवहार की तनिक सी असावधानी[3] के कारण फिर वहां लौट कर कभी नहीं आए । कवि का अहं इतना प्रबल था कि स्वयं आश्रय-दाता के दामामांगने पर भी उन्होंने वहां रहना उचित नहीं समझा ।[4] किन्तु इस कवि को दंभी कहने की भूल न हो इसलिए यह कह देना प्रासंगिक होगा कि उनके भावों में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ा था । तभी वे लिख सके थे त्यों मुकुत बिना भगवंत लगै अब अंतश्वद न नीकौ ।

१- ' जौलौं काग सराध पक्ष तौलौं तुव सनमान ' बिहारी ०

२- भूषण पृष्ठ ११८

३- प्रा० पं० पृष्ठ ८२

४- प्रा० पं० पृष्ठ ८२

प्रकृति

मंडल की प्रकृति कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में सहायक है : हमारे मंडल के कवियों को मिली प्राकृतिक दृश्यों की संपत्ति उनकी प्रतिभा के विकास एवं उसके प्रकाशन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । बुंदेलखंड की भौगोलिक विशेषता प्रकृति के नाना रूपों के प्रति संवेदन शील जन मानस में तीव्र अनुभूति जागृत करती है । यहां के सघन बनों तथा फूलों-फलों एवं लता वितानों के चित्रण[१], पर्वतों की गुफाओं और चोटिओं के सजीव वर्णन[२] सरिताओं की गति भंगिमाओं[३] के मार्मिक आलेखन निर्झरों की मुखरता[४]

१- आदीप्तानिव वैदेहि सर्वत: पुष्पितान्नगान्
स्वै: पुष्पै: किंशुकान्पश्य मालिन: शिशिरात्यये
पश्य मल्लातकान्विल्वान्नरै रनुप सेवितान्
फल पुष्पैरवनतान्नूनं शक्ष्यामि जीवितुम् । बाल्मीकि० अयोध्या० सर्ग ५६।६,७

तथा ` छाया विनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठ संभाव्यफलेष्वमीषु
तस्यातिथीनामधुनासपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ।` रघु० १३।४६

२- धारास्वनोद्गारि दरी मुखोऽसौ श्रृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपंक :
बध्नाति मैं बन्धुर गात्रि चक्षुर्दृप्त: ककुद्नानिव चित्र कूट: । रघु० १३।४७

तथा

चित्रकूट गिरि अचल अहेरी चूक न घात मार मुठभेरी - मानस०

३- तेषां दिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं गत्वा सद्य
फलम विकलं कामुकत्वस्य लब्धा
तीरोपान्तस्तनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्सभ्रूभंङ्ग मुखमिव-
पयोवेत्रावत्याश्चलोर्मि - मेघ० पूर्वमेघ- २६

४- विचरंति वनांतेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव
सरित्प्रस्रवण प्रस्थान्दरीकंदर निर्झरान- बाल्मीकी० अयोध्याकांड- ५४।४२

तथा

गीतावली के अयोध्याकांडमेंछंद- ४० से ४८ तक देखिये

के शब्द-बद्ध कथन में महाकवियों की वाणी भी गौरव पा गई है। तुलसी के समक्ष वर्षा का चित्रण करने में जो दृश्य सामने थे वे जायसी को नहीं सुलभ थे। तुलसी और जायसी की रचनाओं से लिए गए इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने पर्वतीय प्रदेश की वर्षा का चित्रण प्रत्यक्षदर्शी के रूप में प्रस्तुत किया है।

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
सोहत स्याम जलदमृदु धौरत धातु रंग मगे सृंगनि

तुलसी के उपर्युक्त गीत के साथ जायसी के पद्मावत में नागमती वियोग खंड के 'चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा, साजा बिरह दुंद दल बाजा' प्रकरण की तुलना करके दोनों कवियों की पृष्ठभूमि में प्रकृति के अन्तर को भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। परन्तु इन थोड़ी सी विशेषताओं के अतिरिक्त दोनों ही अर्द्ध मंडलों की प्रकृति को व्यापक रूप से एक ही खंड में रखकर देखने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः दोनों क्षेत्रों में इतनी समीपता है कि अन्तर डालने वाले आधार परिपूरक बन जाते हैं। जलवायु की अभिन्नता के कारण खेतों के जोतने-बोने, काटने और मांड़ने के समय में अधिक अन्तर नहीं होता। ऋतुओं के विभाजन के पीछे भी जलवायु की समता का आधार है। इस प्रकार प्रकृति ने सामाजिक अनुभूतियों में एकरूपता लादी है। हमारे समस्त उत्सव-पर्व इसका नियंत्रण करते हैं। वसंत, होली सावन, दशहरा और दीवाली आदि त्यौहारों के पीछे प्रकृति की ही पृष्ठभूमि उनकी तीव्र अनुभूति को उल्लासमय कर देती है।

बसंत में आम्र-महुए की बौरें, सरसों के खेतों में जगमगाती हुई पुष्पराजि, सावन की फुहारों में भीगते हुए नीम की डालों पर कंठ और झूले की पेंगों के आरोह-अवरोह तथा शरद ऋतु में आकाश की निरभ्रता के साथ खंजन और भांति-भांति के जल-पक्षियों का गांवों तथा सरोवरों में भर जाना कितना प्रभावशाली होता है। वास्तव में काव्य का समस्त संभार प्रकृति के इन्हीं उपादानों पर अवलम्बित है, और कवि के लिए प्रकृति की यह सम्पन्नता वरदान सिद्ध हुई है।

प्रकृति के इस सान्निध्य के कारण हमारी भावानुभूति का विस्तार होता है, भावनाओं में निखार आता है, अभिव्यक्ति में उत्कृष्टता आती है एवं जीवन में सौंदर्य

दृष्टि बनती है । 'हम इस प्रकृति-चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामाजिक चेतना के ।'[१]

दूर दूर तक फैले खेतों की लहराती हुई हरियाली, उनके फूलने और पकने से उड़ने वाली सुगंधि, नदियों, नालों , सरोवरों और झीलों में उत्पन्न होने वाले सिवार काई से लेकर कुमुद और कमल तथा उनके साथ क्रीड़ा करती हुई लहरें एवं भांति-भांति के शब्द करने वाले रंग विरंगे पक्षी जो संस्कार छोड़ जाते हैं, उन्हें कोई भी जाति कैसे मिटा सकती है । अमावस की अंधेरी रात में असंख्य ताराओं से भरे हुए नीले आकाश का हृदय, पूर्णिमा की धवल चंन्द्रिका का सुधा-सौंदर्य, उषा की तारुण्य कांति से छिटकी अरुणाभा तथा भावों के आलोड़न विलोड़न का रूप-बोध कराने वाले भांति भांति के पशु पक्षियों के गुण विशेष, उनके अंगों की रचना श्रेष्ठता, उनके उठने-बैठने चलने और देखने के एक-एक दृश्य हमारे निरीक्षणों तथा हमारी अनुभूतियों के विम्ब विधान के कितने मूल्यवान उपकरण बनते हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं । उनके नैसर्गिक गुण विशेष में हमारे मनोवेगों की पूर्णता की अभिव्यक्ति मानव-मानस में अपनी अमिट छाप अंकित कर जाती है तभी हम अपनी अनुभूतियों की प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए रंग-रेखाये पा जाते हैं । हमारे जातीय साहित्य को समृद्धि देने में इस प्रकृत वातावरण का बहुत बड़ा हाथ है । इस संदर्भ में डा० श्याम सुन्दर दास के 'भारतीय साहित्य की विशेषतायें' से पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा- 'भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है । वे हरे भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते हुए प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं । यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता, तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं, तथा उपमा, उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते ।" हमारी जाति ने सृष्टि की

१- प्र०का० पृ० ३६

कल्पना फूल के भीतर से की है । फूल प्रकृति का सुन्दरतम प्रतिनिधि है । हम उससे उत्पन्न हैं और उससे अविभाज्य है । पहले प्रकृति है फिर मनुष्य ।

हम डाक्टर रघुवंश के शब्दों में कह सकते हैं कि ' प्रकृति का सौंदर्य तथा आकर्षण संवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है ।' और कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौंदर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है ।'[१]

संगीत

संगीत की परम्परा : मंडल की भूमि अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण अतीत काल से ही संगीत की भव्य परम्परा का सूत्रपात कर सकी है ।[२] यहां जिस संगीत का अभ्युदय हुआ है उसे जीवन के चरम सत्य-मोक्ष-का साधन बताया गया है ।[३] इतिहास की एक अविच्छिन्न परम्परा में विकसित होता हुआ उत्तर भारत का संगीत लोदी युग में ग्वालियर के महाराज मानसिंह तोमर के ध्रुपद शैली के आविष्कार से एक अत्यन्त गौरवशाली भूमिका में स्थापित हुआ । मुस्लिम शासकों में अकबर को संगीत के आश्रयदाता के रूप में सबसे अधिक श्रेय मिला है । अकबर के युग में अनेक संत और दरबारी संगीतज्ञों के अतिरिक्त हिन्दी के अमर कवि सूरदास एवं मीरा ने संगीत के रागों में बांधकर अपने सहस्रों पदों की महान भेंट जनता के सामने प्रस्तुत

१- प्र०का० पृष्ठ १०६

२- भा०सं० पृष्ठ ४५

३- ' नाद स्वानु संधेयो योग साम्राज्य मिच्छता ' वराहो० ३।८३

की तथा सर्व प्रथम संगीत का संबंध जीवन से जोड़ा।[१] इसी समय के लगभग हुए महाकवि तुलसीदास के काव्य की लोक प्रियता का रहस्य संगीत के तत्वों के समावेश पर निर्भर करता है।[२] अकबरी दरबार के ३६ कलाकारों और हिन्दी के इन महान् कवियों के योग से उत्तर भारत के जन-जीवन में संगीत उमड़ पड़ा। इसी युग में संगीत के विकास की पृष्ठभूमि भी निर्मित हुई। अरबी और फारसी के रागों को भारतीय रागों में बांधने के आयास हुए।[३] तथा उत्तर और दक्षिण भारत की संगीत धाराओं में भी निकटता आई। अकबर के उत्तराधिकारी जहांगीर के समय की स्थिति सामान्य थी किन्तु शाहजहां का युग अवश्य ही प्रगति की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस समय संगीत अभिजात वर्ग के हाथों से सामान्य जनता के हाथों में पहुंचा। इस कारण दरबारों में संगीत को आश्रय तथा उसे विशेष से सामान्य की ओर झुकाना था। फलस्वरूप पेशेवर लोगों ने इसे पेशे के लिए माध्यम बनाया। यहां उसकी साधनात्मक श्रेष्ठता और पवित्रता को बहुत बड़ा धक्का लगा। मुस्लिम संस्कारों से समन्वित क्षेत्रों में ही यह प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई। क्योंकि अरबी संगीत का उद्देश्य मनोरंजन और थकान दूर करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं था।[४] लोकरुचि के अधिक निकट होने के कारण इसका प्रचार और प्रसार भी खूब हुआ। निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में पड़ने के कारण यहां संगीत की धार्मिक मर्यादा रक्षित नहीं रह सकी।[५]

१- भा०सं० पृ० २४४

२- भा०सं० पृ० २५६

३- भा०सं० पृ० २३७

४- भा०सं० पृ० २७६

५- भा०सं० पृ० २७४

मुस्लिम संसर्ग की संगीत क्षेत्र में प्रतिक्रिया: औरंगजेब के सामने संगीत और संगीतज्ञों का यही पक्ष सामने आया होगा क्योंकि दरबारी वातावरण से इसी शैली का विशेष सम्बंध था। इसलिए वह संगीत को भ्रष्टाचारिता का एक साधन समझ कर इसे गहरे दफनाया हुआ देखना चाहता था। परिणाम स्वरूप संगीत को राज्याश्रय से बहिष्कृत किया गया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार इस नयी शैली के संगीत को राज्याश्रय से अपदस्थ किया गया उसी प्रकार उसे पवित्रतावादी भारतीय संगीतज्ञों ने भी हेय और त्याज्य समझा। उन्हें अपने संगीत का वर्ण सांकर्य सहन न हुआ होगा और वे संगीत की विशुद्धता की रक्षा के लिए अपनी कला को एकान्त साधना का विषय बना बैठे ऐसा जान पड़ता है। काव्य की ही भांति इस क्षेत्र में भी हमारे प्रयास आत्मरक्षात्मक थे। प्रतिकूलता के घटा टोप में भी हमने प्राचीन संगीत के मूल रूप की अविकृत होने से रक्षा की तथा समय-समय पर सृजन भी किया। संगीत के क्षेत्र में यही उस युग की देन है।

संगीत क्षेत्र की तीन पेटियां : इस युग में भारतीय संगीत ब्राह्मण और क्षत्रियों के कुछ घरानों तक ही सीमित रह गया था।[1] ब्राह्मण

१-श्री भरत व्यास का कथन है कि उन्होंने संपूर्ण उत्तर भारत के संगीत-ठिकानों में भ्रमण किया है परन्तु उन्हें ध्रुपद के अतिरिक्त वीणा एवं परवावज को अपनाने वाले किसी ब्राह्मण कुल का कदाचित ही सम्पर्क हुआ है। इस सम्बंध में भरत जी व्यास के साथ घटित यह घटना पर्याप्त प्रकाश डालेगी। वे १९३५ में ललितपुर से सात कोस पैदल चलकर औरछा घराने के एक ठाकुर साहब के यहां गये थे। ठाकुर साहब तत्कालीन औरछा के राजा के ही निकट सम्बंधी थे। जिनकी आयु लगभग १०० वर्ष थी। उनके पुत्र नित्य अपने पूर्वजों के संगीत का कीर्तन देव-मंदिर में करते थे। व्यास जी के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने कोई गीत इन्हें नहीं दिया और कहा कि यह हमारे पूर्वजों की पवित्र निधि है इसे हम नहीं दे सकते क्योंकि इससे लोग बाहर जाकर भीख मांगते हैं, इसे हम केवल देवता को सुनाते हैं। १५वें दिन व्यास जी की जिज्ञासा से प्रभावित हो 'ब्रह्म जोग' नामक ताल पर एक बहुत बढ़िया 'चीज' सुनाई लेकिन लिखने नहीं दिया।

केवल ध्रुपद की गायन परम्परा को पकड़ कर रह गए थे किन्तु दात्रियों ने वीणा, मृदंग (परवावज) तथा ध्रुपद के गायन के अंगों को पूर्णतया अपनाया था । संगीत के इन तीन अंगों की कुशलता की दृष्टि से दात्रियों के तीन क्षेत्र थे जिनमें उन्होंने बड़ी ही दक्षता से इनका संरक्षण तथा संवर्द्धन किया । सांवली, पानीपत तथा जावली वीणावादकों के केंद्र थे । मेवाती (जो बाद को मुसलमान बना लिए गए थे) राजपूतों के घराने इसको अपनाए रहे । इनकी वीणा-वादन शैली तानसेन के घराने की शिष्य परम्परा से भिन्न है । दसबली सिंह ही एक किंवदन्ती के अनुसार दस्सब अली खां बना लिए गए थे । इस घराने के अनेक प्रसिद्ध वीणाकारों के नाम आज भी गौरव से स्मरण किये जाते हैं । परवावज के क्षेत्र में मालवा के राजपूतों (विशेषकर तोमरों) को नहीं भुलाया जा सकता । अकबर के सम-सामयिक शोकासेन थे । इन्हीं की परम्परा में अनेक उत्कृष्ट कोटि के परवावज्यिों के नाम मिलते हैं जो नत्थू खर इत्यादि प्रसिद्ध घरानों से सम्बद्ध हैं । इस परम्पारा के आचार्यों के ध्रुपद, चौकड़े तथा पनें अभी तक विशेषज्ञों को ज्ञात हैं । ध्रुपद शैली के गायन के लिए रीवां से लेकर बुंदेलखंड तक का क्षेत्र केंद्र था । यहां भी अनेक ध्रुपदकार हो गए हैं । बघेलों में रामसखे, मौन मुदित, तथा महाराज विश्वनाथ सिंह के अनेक ध्रुपद प्राप्त हैं और उनकी दक्षता के अनेक आख्यान भी संगीतज्ञों के घरानों से संबद्ध लोगों की परम्पारा से स्मरण हैं । मैहर तथा औरछा तक इस परम्परा के घराने फैले हुए थे । अनुमान यह है कि भगवंतराय को इसी परम्परा से संगीत का ज्ञान मिला होगा । [१]

इस परम्परा को दृष्टि-पथ में रखते हुए रीतिकालीन संगीत की समग्र उपलब्धि को इन शब्दों में प्रकट करने में डा० सावित्री सिन्हा ने न्याय नहीं किया है । " रीतिकाल के कवि और संगीतज्ञ दोनों की एक ही दशा थी, दोनों ही आश्रयदाता की रुचि पर पल रहे थे, अतएव, उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही श्रृंगार पूरक प्रतिपाद्य और कला प्रधान चमत्कार वादिता को अपनाना पड़ा ।"[२] इन शब्दों के अतिरिक्त डा०सावित्री सिन्हा ने रीतिकाल के संगीत को चमत्कार प्रदर्शन श्रृंगारिकता, एवं मनोरंजन प्रधान आदि

१- बृहत्-इति०-पृ०-२६ यह अनुमान व्यास जी का है । उन्होंने इस क्षेत्र का भ्रमण किया है और भगवंतराय के ध्रुपदों को देखकर यह धारणा बनाई है ।

२- वृहत् इति० भाग-६, पृ० २६

विशेषणों में बन्दकर के रख दिया है [१] जो हमारे विचार से उचित नहीं है। वास्तव में इस स्थिति के विपरीत संगीत को बड़ी ही उदात्त भूमि पर स्थापित करने के इस युग में ऐतिहासिक प्रयास किए गए हैं। भगवंतराय का संगीत-कर्तृत्व इसी धारा का चरम बिन्दु है। इस युग के कवि भी संगीत तत्व के प्रति बड़े जागरूक रहे हैं। देव और सुखदेव मिश्र के संगीतज्ञ होने के प्रमाण हैं ही[२]। घनानन्द भी उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि घनानन्द के गीत इस युग में खूब प्रचलित हो रहे थे। उत्तर प्रदेश की नारियां उनके प्रेम भरे गीतों को खूब गाती थीं। उनके अनेक पदों पर कई प्रकार के नृत्य बन चुके थे।[३] रीतिकाल के सर्वाधिक प्रियछन्द कवित्त और सवैया में निहित संगीतात्मकता का मूल्यांकन उद्घाटन डा० नगेन्द्र के इन शब्दों से करना उचित होगा " इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। ..... सवैया और कवित्त के विधान के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय परिवर्तन कर रीति कवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है।"[४]

इस आन्तरिक चेतना के कारण ही रीति काल की प्रथम शताब्दी में संगीत साहित्य का निर्माण विपुल मात्रा में हुआ है।[५]

१- वृहत् इति० भाग-६, पृष्ठ २६

२- देव का 'राग रत्नाकर' ग्रन्थ संगीत की दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति माना ही जाता है। सुखदेव मिश्र के भी कुछ बहुत श्रेष्ठ ध्रुपद श्री भरत जी के पास हमें देखने को मिले हैं।

३- भा०सं० पृ० ३४७

४- वृहत् इति० पृ० ५४८

५- भा०सं० पृ० २८६